स्थापित जुलाई 1988

ISSN No. 0971-796 X

प्राकृत विद्या

वर्ष 1, अंक 2

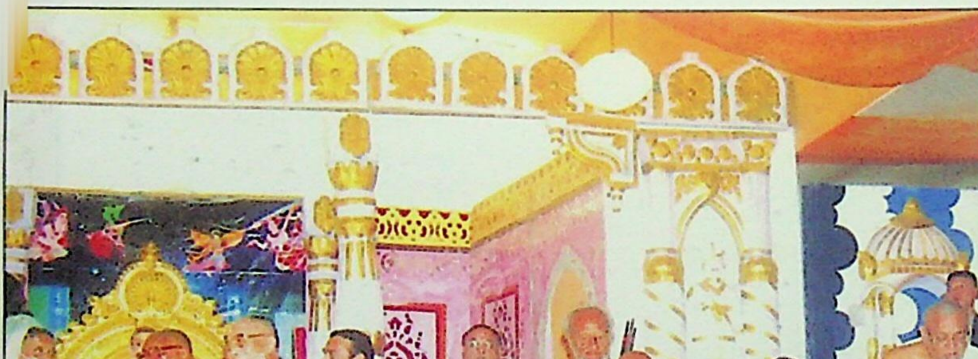
अक्टूबर-दिसम्बर 2007 ई.



कंकाली-टीला मथुरा से प्राप्त आयागपट्ट प्रथम शताब्दी



सिद्धान्तचक्रवर्ती आचार्यश्री विद्यानन्दजी मुनिराज बौद्धों के विश्वगुरु महामहिम दलाई लामा जी को आशीर्वाद प्रदान करते हुए।



सर्वधर्म पर्यावरण सुरक्षा सम्मेलन में सिद्धान्तचक्रवर्ती आयार्यश्री विद्यानन्दजी मुनिराज बौद्ध गुरु महामहिम दलाई लामाजी, विजयरत्न सुन्दर सूरीश्वरजी, आचार्य डॉ. साधनाजी तथ अन्य

ISSN No. 0971-796X

समयसार

।। जयदु सुद देवदा ।।

प्राकृत–विद्या
पागद–विज्जा

PRAKRIT-VIDYA
Pagad-Vijja

प्राकृत, अपभ्रंश आदि प्राच्य भारतीय भाषाओं की हिन्दी तक की विकास-यात्रा दर्शानेवाली समर्पित त्रैमासिकी शोध-पत्रिका

A quarterly journal devoted to researches on the development of Prakrit, Apabhramsha and Ancient Indian Languages upto Hindi Language

वीरसंवत् 2533 अक्टूबर-दिसम्बर 2007 ई. वर्ष 1 अंक 2
Veersamvat 2533 October-December 2007 Year 1 Issue 2

आचार्य कुन्दकुन्द समाधि-संवत् 2019

प्रकाशक
श्री सुरेशचन्द्र जैन
अध्यक्ष
श्री कुन्दकुन्द भारती ट्रस्ट
18-बी, स्पेशल इन्स्टीट्यूशनल एरिया,
नई दिल्ली-110067
फोन (011) 26564510, 26513138

Publisher
SURESH CHANDRA JAIN
President
Shri Kundkund Bharti Trust
18-B, Special Institutional Area
New Delhi-110067
Phone (011) 26564510, 26513138

इस प्रति का मूल्य बीस रुपये

अनुक्रम

रटि रसना मेरी ऋषभ जिनन्द, सुरनरजच्छ चकोरन चन्द।
नामी नाभिनृपति के बाल, मरुदेवी के कुँवर कृपाल।
पूज्य प्रजापति, पुरुष पुरान, केवल किरण धरें जगभान।
नरक-निवारन विरद विख्यात, तारन-तरन जगत के तात।
'भूधर' भजन किये निरबाह, श्रीपदपद्म भ्रमर हो जाह।

–भूधरविलास, 82

हे मेरी रसमाधुरी परिचित जिह्वे ! श्रीऋषभ जिनेन्द्र का नाम जप। भगवान् आदीश्वर चन्द्रमा के समान अमृतवर्षी हैं जिन्हें देव, मनुष्य तथा यक्ष चकोर होकर देखते रहते हैं। प्रभु नामधारी हैं, सुनाम हैं, नाभिराज के बालक तथा माता मरुदेवी के कुमार हैं। वह स्वभावतः कृपामय हैं। पूज्य हैं, प्रजापति हैं, पुराण पुरुष हैं तथा केवल ज्ञानरूप किरणधारी सूर्य हैं– अथवा केवल ज्ञानधारी (जगत् का भान रखने वाले)– सर्वज्ञ परमात्मा हैं। नरकनिवारण उनका स्तुतिपद है। वह विश्वपिता एवं तरण-तारण हैं। कवि 'भूधरदास' का विश्वास है कि भगवान् का भजन ही उत्तमगति के निर्वाह का साधन है अतः श्रीभगवान् के चरण-कमलयुगल में भ्रमर होकर अपने को तन्मय-तल्लीन कर देना ही श्रेयस्कर है।

पुरुदेव-मंगल-आरती

जय मंगलं नित्यशुभमंगलम्।
जय विमलगुणनिलय पुरुदेव ! ते।। जय मंगलं।।

हे विमलगुणों के निवास स्थान भगवन् पुरुदेव (भगवान् आदिनाथ) ! आपकी जय हो। आप जय और मंगलस्वरूप हैं, नित्य शुभमंगलात्मा हैं।

जिनवृषभ वन्दारुवृन्दवन्दितचरण !
मन्दारकुन्दसितकीर्तिधर ! ते।
इन्दुकरघृणिकोटिजितविशदतनुकिरण !
मन्दरगिरीन्द्रनिभवरधीर ! ते।। जय मंगलं।।

हे जिनश्रेष्ठ ! वन्दना करने वाले देव-मनुजवृन्द से सुपूजित चरण ! मन्दार और कुन्द-पुष्पावलीसदृश निरवद्य शुभ्रकीर्ति के धारक ! अपने शरीर की कान्ति से कोटि-कोटि चन्द्रकिरणों को निर्जित करनेवाले ! गिरिराज मन्दराचल के तुल्य धैर्यशालिन्! आप जय-मंगल हैं, नित्य शुभमंगलात्मा हैं।

घोरतरसंसारवाराशिगततीर !
नीराजनाकाररागहर ! ते।
मारवीरेशकरकोदण्डभंगकर-
सार ! शिवसाम्राज्यसुखसार ! ते।। जय मंगलं।।

हे घोरातिघोर संसार सागर-पारतीरगामिन् ! आरार्तिक्यदीप से अर्चा करने वालों के रागहारिन् ! विश्वजयी कामदेव के कोदण्ड (पुष्पचाप) को भंग करने वाले ! सारभूत शिवसाम्राज्य के सुख भोक्ता! आपकी जय हो, नित्य मंगल हो।

सुकिसलयततिविततकंकेलितरुनिकट-
सुखविनुतसुरकुसुमवर्षयुत ! ते।
अकलंकजनहृदयतिमिरौघनुदनिनद !
सकलशशिसितचमरनिकरधुत ! ते।। जय मंगलं।।

सुन्दर नवीनपल्लव समूह से आकीर्ण अशोक वृक्ष के समीप सुखपूर्वक नमन करनेवाले देववृन्द द्वारा की गई सुमनवृष्टि से आसेवित है, निष्कलंक भव्यात्माओं के

हृदयसन्निविष्ट तिमिर समूह का अपनोदन करनेवाले ! सम्पूर्ण कलाओं से शोभायमान शीतरश्मि सदृश चमरों से वीजित ! परमात्मन् ! आपकी जय हो, नित्य शुभमंगल हो।

चण्डकेसरि विधृतपुण्डरीकासनम–
मण्डित सुभामण्डलभात ! ते।
खण्डिताशनिघोषदिविजदुन्दुभिनाद !
पुण्डरीकत्रितयजितचण्ड ! ते।। जय मंगलं।।

हे व्यात्तमुख प्रचण्ड सिंह द्वारा धारित कमलासन पर विराजमान! मण्डलाकृति भामण्डल से शोभायमान ! अपने दिव्यध्वनि नाद से वज्रघोष का दर्प खण्डित करनेवाले ! पुण्डरीकत्रितय शोभित ! चण्डजयिन् ! आपकी जय हो, नित्य शुभमंगल हो।

निरुपम निरातंक निःशेष निर्माय
निरशन निःशोक निर्मोह ! ते।
परमसुख परदेव परमेश परवीर्य
निरघ निर्मलरूप वृषभेश ! ते ।। जय मंगलं।।

हे उपमारहित ! भयविहीन ! मुक्तिप्राप्त ! मायावर्जित ! क्षुधा-शोक-मोह विधुर ! परमसुखसम्पन्न ! परमदेव ! परमेश्वर ! परमवीर्य ! निष्पाप ! निर्मल स्वरूप ! हे श्रीऋषभ जिनेश्वर ! आपकी जय हो, नित्य शुभमंगल हो। ❖❖

निरखे नाभिकुमार जी ! मेरे नयन सफल भये आज।।
नये नये वर मंगल पाये, पाई निज रिधि सार।।
रूप निहारन कारन हरिने कीन्हीं आंख हजार।।
वैरागी मुनिवर हू लखिके ल्यावत हरष अपार।।
भरम गयो, तत्त्वारथ पायो, आवत ही दरबार।।
'बुधजन' चरण-शरण गहि जाचत, नहिं जाऊँ परद्वार।।

—बुधजनविलास, 30

आज मैंने नाभिराज के कुमार को देखा; अहो भाग्य ! मेरे नयन सफल हो गये। दर्शन मात्र से मुझे नव-नव वरदान, मंगल मिल गये तथा सारभूत आत्मऋद्धि की मुझे प्राप्ति हो गई। भगवान् की रूपमाधुरी का दो नेत्रों से पान नहीं किया जा सकता, मानो इसी भावना से इन्द्र ने सहस्र लोचन उत्पन्न कर लिये हैं। वह इन्द्र वीतरागी मुनिराज श्री वृषभनाथ को देख-देखकर अपार प्रसन्नता का अनुभव कर रहा है। अहो ! ऐसे प्रभु के दरबार (आस्थान सभा) में आते ही भ्रम भाग जाते हैं तथा आत्मश्रद्धानरूप तत्त्वार्थ की सम्प्राप्ति हो जाती है। कवि 'बुधजन' ने इन चरणों की शरणागति ग्रहण की है। भगवान् के श्रीचरण स्पर्श करते हुए उनकी याचना है कि वह किसी और के द्वार नहीं जाना चाहता अथवा आत्मपरिणति छोड़कर परपरिणति नहीं चाहता।

सम्पादकीय

तीर्थ

✍ डॉ. सत्यप्रकाश जैन

बोधपाहुड में आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि पाँच इन्द्रिय-संयत संवर सहित, निरपेक्ष ऐसा आत्मस्वरूप तीर्थ विषै दीक्षा-शिक्षा रूप स्नान करि पवित्र होओ। {शुभ बुद्ध एक स्वभाव है लक्षण जिसका ऐसे निजात्म स्वरूप रूप तीर्थ में जो कि संसार समुद्र से पार करने में समर्थ है। स्नान करके विशुद्ध हो। ऐसा भाव है।} जिन मार्ग विषैं जो निर्मल उत्तम क्षमादि धर्म निर्दोष सम्यक्त्व, निर्मल संयम, बारह प्रकार निर्मल तप, और पदार्थनि का यथार्थ ज्ञान ये तीर्थ हैं। ये भी जो शान्त भाव सहित होय कषाय भाव न होय तब निर्मल तीर्थ है। मूलाराधना के अनुसार श्रुत धर्म तीर्थ कहा जाता है। धवला में आचार्य वीरसेन कहते हैं कि धर्म का अर्थ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र है चूँकि इनसे संसार सागर को तरते हैं इसलिए इन्हें तीर्थ कहा है।

भगवती आराधना में आचार्य शिवार्य लिखते हैं कि जिसका आश्रय लेकर भव्य जीव संसार से तिरकर मुक्ति को प्राप्त होते हैं उसको तीर्थ कहते हैं। कितने भव्य जीव श्रुत से अथवा गणधर की सहायता से संसार से उत्तीर्ण होते हैं, इसलिए श्रुत और गणधर को तीर्थ कहते हैं। एक अन्य प्रकरण में आचार्य लिखते हैं कि संसार से पार उतरने के कारण को तीर्थ कहते हैं, उसके समान होने से आगम को तीर्थ कहते हैं।

प्रवचनसार की तात्पर्यवृत्ति टीका में आचार्य कहते हैं कि दृष्ट श्रुत और अनुभूत ऐसे विषय-सुख की अभिलाषा रूप जल के प्रवेश से जो रहित है ऐसी परम समाधि रूप नौका के द्वारा जो संसार समुद्र से पार हो जाने के कारण तथा दूसरों के लिए पार उतरने का उपाय अर्थात् कारण होने से (वर्द्धमान भगवान) परम तीर्थ हैं।

बोधपाहुड में आचार्य कुन्दकुन्द स्पष्ट करते हैं कि निश्चय तीर्थ की प्राप्ति का जो कारण हैं ऐसे जगत प्रसिद्ध तथा मुक्तजीवों के चरणकमलों से स्पृष्ट ऊर्जयन्त, शत्रुंजय, लाटदेश, पावागिरि आदि तीर्थ हैं। वे तीर्थंकरों के पंचकल्याणकों के स्थान हैं। ये जितने भी तीर्थ इस पृथिवी पर वर्त रहे हैं वे सब कर्मक्षय के कारण होने से वन्दनीय हैं।

तीर्थ के दो भेद हैं— द्रव्य और भाव। इन दोनों की प्ररूपणा भिन्न-भिन्न है ऐसा जानना। संताप शान्त होता है, तृष्णा का नाश होता है, मल पंक की शुद्धि होती है, ये तीन कार्य होते हैं इसलिए यह द्रव्य तीर्थ है। सभी जिनदेव दर्शन ज्ञान चारित्र से

संयुक्त हैं। इन तीन कारणों से युक्त हैं इसलिए वे जिनदेव भाव तीर्थ हैं।

बोधपाहुड में आचार्य कुन्दकुन्द देव जहाँ पदार्थ के यथार्थ ज्ञान को तीर्थ कहते हैं, मूलाराधना में आचार्य श्रुतधर्म को तीर्थ कहते हैं; वहाँ वैदिक साहित्य में वेदों को तीर्थ की संज्ञा प्राप्त है। हिन्दू समाज में गंगा को सबसे बड़ा तीर्थ माना गया है, तो हिन्दी साहित्य में नदी के घाट को भी तीर्थ कहते हैं।

हमारी आस्था को आधार देने वाले, हमारे जीवन को कल्याणमय बनाने वाले, हमारी धार्मिक परम्परा की अहिंसामूलक संस्कृति की ज्योति को प्रकाशमान रखनेवाले, जन-जन का कल्याण करनेवाले हमारे तीर्थंकर ही हैं। जन्म-मरण के भवसागर से उबार कर अक्षय सुख के तीर पर ले जानेवाले तीर्थंकर प्रत्येक युग में तीर्थ का प्रवर्तन करते हैं अर्थात् मोक्ष का मार्ग प्रशस्त करते हैं। तीर्थंकरों की इस महिमा को अपने हृदय में बसाये रखने और अपने श्रद्धान को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए हम उन सभी विशेष स्थानों को तीर्थ कहते जहाँ-जहाँ तीर्थंकरों के जन्मादि कल्याणक हुए, जहाँ से केवली भगवान, महान् आचार्य साधु और सिद्ध हुए, जहाँ के अतिशय ने श्रद्धालुओं को अधिक श्रद्धायुक्त बनाया, उन्हें चमत्कारी प्रभावों से साक्षात्कार कराया। ऐसे पावन स्थानों में से कुछ हैं जो ऐतिहासिक काल के पूर्व से ही पूज्य हैं और जिनका वर्णन पुराण-कथाओं की परम्परा से पुष्ट हुआ है, अन्य तीर्थों के साथ इतिहास की कोटि में आनेवाले तथ्य जुड़ते चले गये हैं और मनुष्य की कला ने उन्हें अलंकृत किया है। स्थापत्य, मूर्तिकला, विविध शिल्पकारों ने इन स्थानों के महत्त्व को बढ़ाया है। अनादि-अनन्त प्रकृति का मनोरम रूप और वैभव तो प्राय सभी तीर्थों पर विद्यमान है।

तीर्थ क्षेत्र पवित्र होते हैं और उनकी पवित्रता को किसी प्रकार आंतरिक या बाह्यरूप से क्षति नहीं पहुँचनी चाहिए। ज्ञानार्णव में आचार्य शुभचन्द्र ने कहा है—

जनसंसर्गवाक्चित्तपरिस्पन्दमनोभ्रमाः। उत्तरोत्तरबीजानि ज्ञानिजनमतस्त्यजेत्।

अधिक मनुष्यों का जहाँ संसर्ग होता है, वहाँ मन और वाणी में चंचलता आ जाती है और मन में विभ्रम उत्पन्न हो जाते हैं। यही सारे अनर्थों की जड़ है। अतः ज्ञानी पुरुषों को अधिक जन-संसर्ग छोड़ देना चाहिए।

तीर्थ-क्षेत्रों पर जो जनसमूह एकत्रित होता है, उसका उद्देश्य धर्म-साधन होना चाहिए। यदि उस समूह में कुछ तत्त्व ऐसे हों जो सांसारिक चर्चाओं और अशुभ रागवर्द्धक कार्यों में रस लेते हों तो तीर्थों पर जाकर ऐसे तत्त्वों के सम्पर्क से यथासम्भव बचने का प्रयत्न करना चाहिए तथा अपने चित्त की शान्ति और शुद्धि बढ़ाने का ही उपाय करना चाहिए। यही आन्तरिक शुद्धि कहलाती है।

बाह्य शुचिता का प्रयोजन बाहरी शुद्धि है। तीर्थ क्षेत्रों पर जाकर गन्दगी नहीं फैलानी चाहिए। तीर्थों पर बाहरी सफाई का विशेष ध्यान रखना चाहिए। तीर्थ तीर्थंकरों या केवलियों के स्मारक हैं। उनकी उपदेश सभा में मनुष्य, देव, पशु-पक्षी तक सभी

जाते थे। उनके पावन स्मारक रूप तीर्थों के सभी को दर्शन करने चाहिएं। जहाँ प्राणी के कल्याण और विश्वमैत्री का घोष उठा हो, वहाँ यदि कषाय के निर्घोष गूंजने लगें, तो फिर तीर्थों की पवित्रता, पावनता कैसे बनी रह सकती है? तीर्थों के वातावरण में से पावनता का वह स्वर मंद पड़ जाए तो तीर्थों का माहात्म्य और उनका अतिशय कैसा बना रह सकता है? आज तीर्थों पर वैसा अतिशय नहीं दीखता, जैसा मध्यकाल तक था और उसके ज़िम्मेदार हैं वे लोग जो योजना अनुसार आये दिन तीर्थ क्षेत्रों के उन्मुक्त वीतराग वातावरण मे कषाय का विषैला धुआँ छोड़कर वहाँ घुटन पैदा करते हैं।

श्रावक के दैनिक आवश्यक कर्मों में आचार्य कुन्दकुन्द ने प्राभृत में तथा वरांगचरित और हरिवंशपुराण में आचार्यों ने दान, पूजा, तप और शील ये चार कर्म बतलाये हैं। भगवज्जिनसेन ने इसको अधिक व्यापक बनाकर पूजा, वार्ता, दान, स्वाध्याय, संयम और तप को श्रावक के आवश्यक कर्म बतलाये। सोमदेव और पद्मनन्दि ने देव-पूजा, गुरूपासना, स्वाध्याय, संयम, तप और दान ये षडावश्यक कर्म बतलाये। इन सभी आचार्यों ने देव-पूजा को श्रावक का प्रथम आवश्यक कर्त्तव्य बताया है। परमात्मप्रकाश में तो यहाँ तक कहा गया है कि– तूने न तो मुनिराजों को दान ही किया, न जिन भगवान् की पूजा ही की, न पंच परमेष्ठियों को नमस्कार किया, तब तुझे मोक्ष का लाभ कैसे होगा? इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भगवान् की पूजा श्रावक को अवश्य करनी चाहिए। भगवान की पूजा मोक्ष-प्राप्ति का एक उपाय है। आदिपुराण में पूजा के चार भेद बताये हैं– नित्यपूजा, चतुर्मुखपूजा, कल्पद्रुमपूजा और आष्टाह्निका। अपने घर से गन्ध, पुष्प, अक्षत ले जाकर जिनालय में जिनेन्द्रदेव की पूजा करना सदार्चन अर्थात् नित्यमह (पूजा) कहलाता है। मन्दिर और मूर्ति का निर्माण कराना, मुनियों की पूजा करना भी नित्यमह पूजा कहलाता है। मुकुटबद्ध राजाओं द्वारा की गयी पूजा चतुर्मुख पूजा कहलाती है। चक्रवर्ती द्वारा की जानेवाली पूजा कल्पद्रुम पूजा होती है और अष्टाह्निका में नन्दीश्वर द्वीप में देवों द्वारा ही जानेवाली पूजा अष्टाह्निका पूजा कहलाती है। भगवान का पूजन भगवान के प्रति अपनी विनम्र भक्ति का दर्शन है। पूजा अष्ट द्रव्य से की जाती है– जल, गन्ध, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप और फल। इस प्रकार के उल्लेख प्रायः सभी आर्ष ग्रन्थों में मिलते हैं। तिलोयपण्णत्ति में नन्दीश्वर द्वीप में अष्टाह्निका में देवों द्वारा भक्तिपूर्वक की जानेवाली पूजा का वर्णन है। उसमें अष्टद्रव्यों का वर्णन आया है। धवला टीका में भी ऐसा ही वर्णन है। आचार्य जिनसेन कृत आदिपुराण में भरत द्वारा तथा पर्व 23 श्लोक 106 में इन्द्रों द्वारा भगवान् की पूजा के प्रसंग में अष्टद्रव्यों का वर्णन आता है। पूजन विधि के सम्बन्ध में समाज में कुछ मान्यता भेद हैं परन्तु अष्टद्रव्यों के नामों के सम्बन्ध में कोई मतभेद नहीं है। पूजा कषाय को कृश करने, मन को अशुभ से रोककर शुभ में प्रवृत्त करने और आत्मशान्ति प्राप्त करने का साधन है। साधन को साधन मानें और हम

उसे साध्य न बनायें तो मान्यता भेद का प्रभाव कम हो सकता है। शास्त्रों को टटोलें तो इस पक्ष या उस पक्ष का समर्थन शास्त्रों में मिल जाएगा। जिस आचार्य ने जिस पक्ष को युक्तियुक्त समझा उन्होंने अपने ग्रन्थों में वैसा ही कथन कर दिया। उन्हें न किसी पक्ष का आग्रह था और न किसी दूसरे पक्ष के प्रति द्वेष भाव। अपने पक्ष के प्रति दुराग्रह और दूसरे पक्ष के प्रति आक्रोश और द्वेषबुद्धि यह कषाय का परिणाम है।

धर्म और पुण्य-कार्य को कषाय का साधन नहीं बनाना चाहिए। मन की चंचलता, मन के संकल्प-विकल्प से दूर होकर आप भगवान के गुणों के संकीर्तन चिन्तन और अनुभवन में अपने आपको जिस उपाय से, जिस विधि से केन्द्रित करें, वही विधि आपके लिए उपादेय है। दूसरा व्यक्ति क्या करता है, क्या विधि अपनाता है और उस विधि में क्या त्रुटि है, अगर हम इस पर अपने उपयोग को केन्द्रित न करके यह आत्म-निरीक्षण करें कि मेरा मन भगवान के गुणों में आत्मसात् क्यों नहीं हुआ, मेरी कहाँ त्रुटि रह गयी, तब फिर क्या मतभेद मन-भेद बन सकते हैं? तीन सौ तिरेसठ विरोधी मतों के विविध रंगी फूलों से स्याद्‌वाद का सुन्दर गुलदस्ता बनानेवाला जैनधर्म और जैन धर्मावलम्बी एक ही वीतराग जिनेन्द्र भगवान के भक्तों की विविध प्रकार की पूजन-विधियों के प्रति अनुदार और असहिष्णु बनकर उनकी मीमांसा करेंगे? और क्या जिनेन्द्र प्रभु का कोई भक्त कषाय को कृश करने की भावना से जिनेन्द्र प्रभु के समक्ष यह दावा लेकर जायेगा कि जिस विधि से उसने प्रभु की पूजा की है, वही विधि सबके लिए उपादेय है? नहीं, बिलकुल नहीं। हमारे अज्ञान और कुज्ञान में से दम्भ झलकता है और दम्भ अर्थात् मद में से स्व के प्रति राग और पर के प्रति द्वेष उपजता है। यह सम्यक् मार्ग नहीं है, यह मिथ्या-मार्ग है।

भगवान् के समक्ष जाकर कोई मनौती नहीं माँगनी चाहिए, कोई कामना लेकर नहीं जाना चाहिए। निष्काम भक्ति सभी संकटों को दूर करती है। यह ध्यान रखना चाहिए कि भगवान् से सांसारिक प्रयोजन के लिए कामना करना भक्ति नहीं, निदान होता है। भक्ति निष्काम होती है, निदान सकाम होता है। निदान मिथ्यात्व कहलाता है और मिथ्यात्व संसार और दुःख का मूल है। विषाहार स्तोत्र में कवि धनंजय ने भगवान् के समक्ष कामना प्रकट करनेवालों को जगाते हुए कितने सुन्दर शब्दों में कहा है–

इति स्तुतिं देव विधाय दैन्याद् वरं न याचे त्वमुपेक्षकोऽसि।
छायातरुं संश्रयतः स्वतः स्यात् कश्छायया याचितयातमलाभः।।

हे देव ! स्तुति कर चुकने पर मैं आपसे कोई वरदान नहीं माँगता। माँगूँ भी क्या, आप तो वीतराग हैं और माँगूँ भी क्यों? कोई समझदार व्यक्ति छायावाले पेड़ के नीचे बैठकर पेड़ से छाया थोड़े ही माँगता है। वह तो स्वयं बिना माँगे ही मिल जाती है। ऐसे ही भगवान् की शरण में जाकर उनसे किसी बात की कामना क्या करना? वहाँ जाकर सभी कामनाओं की पूर्ति तो स्वतः हो ही जाती है। ❖❖

आदिकृषिशिक्षक भगवान आदिनाथ

✍ आचार्य विद्यानन्द मुनि

सुप्रभातं तवैकस्य वृषभस्य महात्मनः।
येन प्रवर्तितं तीर्थं भव्यसत्त्वसुखावहम्।। —सुप्रभातस्तोत्र, 13

कल्पयुग की परम्परा :— वर्तमान में इस लोक की संज्ञा कर्मभूमि है। यहाँ प्राणियों के शरीर की रचना उनके कर्मठ होने की सूचना देती है। मानव के सबल हाथ-पाँव उसके कर्मों में सहायक हैं। इस प्रकार मनुष्य तथा अन्य प्राणियों के कार्यकलाप इस संसार को कर्मभूमि/कर्मक्षेत्र प्रमाणित करते हैं; किन्तु जैन अनुश्रुति के अनुसार कर्मभूमि से पूर्व के युग में यह भूमि भोगभूमि थी, जिस पर सर्वत्र कल्पवृक्ष बहुलता से विद्यमान थे। मनुष्य को बिना किसी श्रम के आहार मिल जाता था और जीवन नाना प्रकार के सुखोपभोगों से भरा-पूरा था। आवश्यक वस्तुओं के अनायास उपलब्ध होते रहने से मनुष्य में हिंसा, चौर्य और संग्रहवृत्ति का अभाव था। इस प्रकार वह कल्पवृक्ष-युग मानव का भोगभूमि-युग था, जिसमें जीवन के सभी साधन प्रचुरता से मिल रहे थे, किन्तु प्रकृति के नियम के अनुसार सुख-दुःख, रात्रि-दिन, और जल-थल परिवर्तित होते रहते हैं और इनका उत्पाद-व्यय-चक्र कभी अवरुद्ध नहीं होता, फलस्वरूप कल्पमहीरुहों (कल्पवृक्षों) का युग समाप्त हुआ और कृतयुग आ पहुँचा।

कल्पयुग से कृतयुग :— कल्पयुग में मानस-संकल्प-मात्र से अभिलषित वस्तुओं की प्राप्ति हो जाती थी, किन्तु कृतयुग में मनुष्य के प्रयत्नों से (कृत से) इच्छित वस्तुएँ उपलब्ध होने लगीं, इसलिए इसे कर्मभूमि की संज्ञा मिली और मानव के कृत से, उसके प्रयत्न और कार्य से उसे जीवनीय सुखों की प्राप्ति संभव हुई। प्रजा के जीवन में क्रान्ति आयी। जो लोग बिना-श्रम किये कल्पतरुओं की अशेष इच्छापूरण छाया में रहा करते थे, उन्हें जीवन-यापन के लिए अब कष्टों का सामना करने पर बाध्य होना पड़ा। महापुराण में इस बदलते हुए युग में प्रजा की मानसिक दशाओं का वर्णन करते हुए आचार्य जिनसेन ने जिन तथ्यों की ओर संकेत किया है, वे बहुत मर्मस्पर्शी हैं। वे लिखते हैं :—

कल्पद्रुमेषु कार्त्स्न्येन प्रलीनेषु निराश्रयाः।
युगस्य परिवर्तेऽस्मिन् अभूवन्नाकुलाः प्रजाः।।

तीव्रायामशनायायामुदीर्णाहारसंज्ञया।
जीवनोपायसंशीतिव्याकुलीकृतचेतसः।।

कल्पवृक्ष अदृश्य हो गये, सर्वथा लुप्त हो गये। प्रजा उस समय निराश्रय (आश्रय-विहीन) होकर आकुल-व्याकुल हो उठी। भूख की तीव्रता से उन्हें बचाना संदेहास्पद लगने लगा। वे चिन्ताकुल होकर सोचने लगे—अहो! अब हम कैसे जियेंगे? हा! हमारे पुण्यों का अवसान हो गया। कल्पवृक्षों के स्थान पर उनसे भिन्न पत्र-पुष्प, वल्कल, वर्ण और फल वाले वृक्ष दिखायी दे रहे हैं, किन्तु कौन जाने, ये विषमय हैं अथवा अमृतमय? इनका आस्वाद कैसा है? मधुर या कटु-तिक्त? हमें बहुत तीव्र बुभुक्षा बाधित कर रही है और इन अपरिचित वृक्षों की फल-भार-विनम्र शाखाएँ हमें संकेत दे-देकर मानो बुला रही हैं। क्या इन्हें छोड़ दिया जाए, अथवा खा लिया जाए? क्षुधा से बुद्धि-विवेक कुण्ठित हुए हैं। कैसे हो इनका उपयोग? हा! संकट में किससे पूछें? कौन मार्ग बताये?

नाथ! कैसे जियें हम? :— इस प्रकार अनेक दुश्चिन्ताओं से हारे-थके प्रजाजन अपनी शंकाओं को दूर करने तथा मार्ग-दर्शन प्राप्त करने के लिए अपने समकालीन युगमुख्य नाभिराज के समीप पहुँचे। नाभिराज चौदहवें मनु थे। अपरिमित मेधा के धनी और प्रजा-हितू। उनके सम्मुख उपस्थित होकर उन्होंने दीन वाणी में कहा—'हे नाथ! हम कैसे जियें?' उन्होंने कल्पवृक्षों का अभाव तथा उनके स्थान पर उगे अन्य फलवान् वृक्षों की ओर संकेत करते हुए पूछा कि क्या हमें भूखों मरना पड़ेगा, या इन नवोत्पन्न वृक्षों में लम्बमान फलों का सेवन हितकर होगा? आप सब जानते हैं, अतः कृपया बताएँ। आपकी प्रजा के प्राणों पर संकट उपस्थित हुआ है। नाभिराज ने सुना और उसकी दुविधा को समझा। वह केवल चौदहवें कुलकर ही नहीं थे, अपितु आदितीर्थंकर भगवान् आदिनाथ के जनक भी थे। जिस समय आदिनाथ गर्भ में थे, देवों ने नाभि के घर को रत्नवर्षा से संकुल कर दिया था, इसलिए बालक का नाम हिरण्यगर्भ रखा गया। माता मरुदेवी के गर्भ से अवतीर्ण इस युगपुरुष के गुण-कर्म-प्रचोदन (प्रेरण) से अनेक नाम रखे गये, जिनसे गर्भवास के समय से ही इनके विलक्षण होने का पता चलने लगा था। नाभिराज ने प्रजा को अवधिज्ञानी पुत्र आदीश्वर की ओर संकेत करते हुए कहा कि अपनी शंकाओं का समाधान इनसे लो। भगवान् आदिनाथ ने प्रजा पर घिरे युगान्तर-जनित संकट तथा परिवर्तन को समझा और बोले—कालचक्र के परिवर्तन से भोगभूमि का अन्त हुआ। अब कर्मभूमि में कर्म करते हुए जीवन-मार्ग को दैवी बनाने का प्रयत्न करो। उन्होंने बताया—

असिर्मषी कृषिर्विद्या वाणिज्यं शिल्पमेव च।
कर्माणीमानि षोढा स्युः प्रजाजीवनहेतवः।। —आदिपुराण, 16/179

कृषिर्भूकर्षणे प्रोक्ता :— अब प्रजा को जीविकोपार्जन के लिए कर्म करना होगा। जीवन में असि, मसि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प—ये छह कर्म आवश्यक

हैं। इनमें असि, मसि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प कृषि पर निर्भर हैं, अतः प्राणरक्षार्थ कृषि करो। कृषि का अर्थ करते हुए उन्होंने बताया– पृथ्वी के विलेखन (जोतने) को कृषि कहते हैं (कृषिर्भूकर्षणे प्रोक्ता)। जैसे अनार को चीरने से उसमें से रसपूर्ण दाने निकलते हैं, उसी तरह पृथ्वी को हलमुख से दीर्ण करने और उसमें बीज बोने से तुम्हें प्राणरक्षक अन्न की प्राप्ति होगी। जैसे पूर्वकाल में तुम्हें कल्पवृक्षों से इच्छानुरूप फल मिलते थे, उसी प्रकार कर्मभूमि में स्वयं-उत्पन्न इन पादपों से तुम्हें फल प्राप्त होंगे। देखो! ये लम्बे दण्डाकार खड़े इक्षु हैं, इन्हें निष्पीड़ित करने से तथा दाँतों से दबाकर चूसने से मधुर जीवनोपयोगी रस मिलेगा। ये ओषधियाँ हैं और खड़े हुए डंठल से प्रतीयमान ये अन्नप्ररोह (अंकुर) हैं। इनमें ये विषपादप हैं, जिन्हें खा लेने पर मृत्यु अवश्यम्भावी है। इत्यादि उपदेश देते हुए भगवान् आदिनाथ ने कर्मभूमि की व्यवस्था की। आदिपुराण का वचन है।

आषाढमासबहुलप्रतिपद्दिवसे कृती।
कृत्वा कृतयुगारम्भं प्राजापत्यमुपेयिवान्।। —आदिपुराण, 16/190

आषाढ़ मास, कृष्णपक्ष प्रतिपदा के दिन भगवान् आदिनाथ ने कृतयुग का सूत्रपात किया और इस प्रकार प्रजा की रक्षा करने से 'प्रजापति' पद धारण किया। आचार्य समन्तभद्र ने भगवान् की इसी भूतानुकम्पा को छन्दोबद्ध करते हुए लिखा है—

प्रजापतिर्यः प्रथमं जिजीविषूः।
शशास कृष्यादिषु कर्मसु प्रजाः।। —स्वयम्भूस्तोत्र-2

प्रजापति भगवान् आदिनाथ ने जिजीविषा-संपन्न प्रजा को कृषिकर्म में शिक्षित किया। 'आदिपुराण' का सूक्त है—

कृष्यादि कर्मषट्कं च स्रष्टा प्रागेव सृष्टवान्।
कर्मभूमिरियं तस्मात्तदासीत्तद्व्यवस्थया।।

भगवान आदिनाथ का कृषि के लिए यह आग्रह न केवल प्रजा के निमित्त अन्नोत्पादन का प्रशिक्षण था, अपितु इसमें एक सात्त्विक रहस्य भी था कि अन्न के अभाव में यदि प्रजा का भक्ष्याभक्ष्य विवेक लुप्त हो गया तो यह बहुत ही भयंकर होगा; क्योंकि अन्ततः अन्न की समस्या मनुष्य के प्राणों की समस्या बन जाती है। अन्न के अभाव में मनुष्य में चरित्र का अभाव हो सकता है। 'सर्वारम्भास्तण्डुलप्रस्थमूलाः' (अन्न की मात्र एक मुट्ठी के लिए संसार के कार्यकलाप चलते हैं)। दुर्भिक्ष की छाया मानव की चेतना पर भी पड़ती है और जैसे वह भूमि को अन्नांकुरहीन कर देती है, वैसे मनुष्य-प्रकृति को भी दारुण बना देती है। विल्हण कवि ने 'राजतरंगिणी' में कहा है— 'दुर्भिक्षेण जनक्षयः' (अकाल से जनक्षय होता है)। दुष्काल में मुनियों को सल्लेखना लेने का विधान शास्त्रों में विहित है। 'बुभुक्षितः किं न करोति पापम्' (भूखा व्यक्ति कौन-सा पाप नहीं करता?) एक हिन्दू भक्त ने तो यहाँ तक कह दिया कि—

भूखे भजन न होय गोपाला।
ले लो अपनी कंठी-माला।।

भला, भूख से तिलमिलाते प्राण भजन में तन्मयता कैसे रख सकते हैं? गोपाल की दी हुई कण्ठी-माला तो उदरगुहा में अन्नदान करने पर ही धारण की जा सकती है। 'विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिन:' (आहाररहित शरीर के विषय लौट जाते हैं); किन्तु यह साधना के मार्ग में स्वयंकृत उपवास की बात है, जो विषयों के वेग को निष्प्राण करने के लिए है। फिर भी इतना तथ्य तो है ही कि बिना खाये-पीये प्राण उछलकर कण्ठ में और फिर आँखों में आ जाते हैं; क्योंकि 'इयमुदरदरी दुरन्तपूरा' (यह पेट की गुहा दुष्पूर है)। प्रतिदिन इस अन्धकूप में कुछ-न-कुछ डालना ही होगा। यही सोचकर भगवान् प्रजापति ने अन्नोत्पादन के लिए कृषि का प्रवर्तन किया।

अहिंसक संस्कृति और कृषि कर्म :— अहिंसक जैन संस्कृति में विधाता प्रजा को इससे अधिक श्रेष्ठ मार्ग और क्या बता सकते थे ? कुछ लोग शंका करते हैं कि कृषि करने वाले किसान के द्वारा क्या हिंसा नहीं होती? भूमि-विलेखन करते हुए न जाने कितने कीट हल-मुख से मरते होंगे, किन्तु उनका यह कहना अनुचित है, क्योंकि हल से भूमि-दारण करते हुए कृषक के भाव कीट-भृंग की हिंसा के नहीं हैं, अपितु उत्पन्न होने वाले अन्न से प्राणिरक्षा के हैं। परिणाम विशेष से ही उसकी हिंसकता अथवा अहिंसकता चरितार्थ होती है। एक मत्स्य-वधिक जाल अथवा वंशी डालकर दिन-दिन-भर जलाशय पर बैठा है और सारे दिन में एक भी मछली उसके जाल में नहीं फँसी। इधर एक किसान के हल के नीचे कितने-ही क्षुद्र जीव अनजाने में ही कुचले गये। शास्त्रकारों का बुद्धिमत्तापूर्ण निर्णय है कि यहाँ मछुहारा ही पापी है, क्योंकि वह मारने के संकल्प लेकर ही जाल लगाये बैठा है। किसान तो शस्य के लिए कर्मरत है। यदि एक शल्य-चिकित्सक (सर्जन) रोगी के किसी अंग में चाकू चुभोता है, उसे चीरता है, तो क्या वह पाप है? पाप की परिभाषा भाव-बोध है। इसी आशय को व्यक्त करते हुए 'तत्त्वार्थवृत्ति' में लिखा गया—

अघ्नन्नपि भवेत् पापी, निघ्नन्नपि न पापभाक्।
परिणामविशेषेण यथा धीवरकर्षकौ।।

इस प्रकार शाकाहारी विश्व की रचना करते हुए भगवान् आदिनाथ ने कृषि का उपदेश दिया। कृषि का यह उपदेश उनकी प्राणि-दया का निदर्शक है। उनकी सत्त्वानुकम्पा का उदाहरण है। अहिंसक दृष्टिकोण का बीज है। गेहूँ के बीज से गेहूँ उत्पन्न कर उन्होंने प्रजा को यह भी बता दिया कि मानव सदा से मानव है, वानर नहीं। डार्विन ने मनुष्य को जो वानर बता दिया, उसका प्रतिवाद करते हुए गेहूँ, जौ, चावल और अन्यान्य वनस्पतियों के अंकुर फलोद्‌गम बाँहें उठाकर मानो घोषणा करते हैं कि हम बीज प्राकृतिक हैं, सहस्रों गर्भाधान भी हमारे मूल जाति रूप से हमें पृथक् नहीं कर

सकते। अनादिकाल से हम चावल ही उत्पन्न हुए हैं। मनुष्य आज भी मनुष्य है और वानर आज भी वानर है। डार्विन का सिद्धान्त; सिद्धान्त नहीं भ्रम है।

अन्न और मन का सम्बन्ध :— इस प्रकार अन्नोत्पादन का सर्वप्रथम मार्गदर्शन करने वाले भगवान् आदिनाथ हुए। अन्न के उत्पादन का आग्रह रखने का आशय यही है कि इससे निरवद्य सात्त्विकता का मिश्रण रक्त में होता है। लोकोक्ति है कि 'जैसा खाओ अन्न, वैसा होय मन'। यथा मतिस्तथा गतिः (जैसी बुद्धि वैसी गति)। पश्चिम के राष्ट्र एक के बाद एक युद्ध रचाते रहे हैं; क्योंकि वे मांसाहारी हैं। मांसाहार विचारों में से सत्वृत्ति का संहार कर देता है। पशु-मांस के लोलुप ही नर-मांस-भक्षण के लिए युद्ध का तरीका अपनाते हैं। यदि वे मांसाहार छोड़ दें, तो उनका मस्तिष्क युद्ध-रचनाओं से हटकर शान्ति-प्रयासों में तत्पर हो सकता है। कुछ मांसाहारी अपने पक्ष में यह दलील उपस्थित करते हैं कि वे अन्न कम होने से मांस खाते हैं; किन्तु विपुल मात्रा में अन्न का निर्यात करने वाला अमेरिका मांसाहारी क्यों है? क्या वहाँ अन्न की कमी मांसाहार के लिए कारण है? नहीं, मांसाहार एक व्यसन है। आत्मचेतना-शून्य, भौतिक अहंवाद की परिणति है। जिह्वा और मन पर लगा हुआ कुसंस्कार है। इन्द्रियों की आराधना करने वालों का पालित अभिशाप है। जब मनुष्य की प्राणाग्नि रौरव हो उठती है, तब वह इस घोर कदन्न (दूषित आहार) की माँग करती है। संस्कार-विशुद्ध घरों के लोग भी छिपकर इस व्यसन के शिकार हो जाते हैं। आहार मनुष्य के विचारों, प्रकृति और संस्कारों का परिचायक है।

आहार शुद्धौ सत्त्वशुद्धिः :— व्रती और संयमियों का मार्ग अ-स्वाद का है जो विषयाग्रही दिङ्मूढ़ मात्र शरीरी हैं, शरीरवादी हैं, उन्हें ही जीववध-जनित आमिषाहार रुचता है। 'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः'। यह मनीषियों की गवेषणा है; अतः भगवान् आदिनाथ के अन्नोपदेश को दृष्टि-पथ में रखते हुए कोई भी ईमानदार व्यक्ति यह घोषणा कर सकता है कि भगवान् आदिनाथ ने अहिंसक विश्व-रचना के प्रथम सूत्र को आहार में देखा और उसके लिए उपाय किया। उनका यह अनुशासन संपूर्ण सत्-संस्कारों की आधार-भूमि कहा जा सकता है; क्योंकि 'अन्नमयोऽयं पुरुषः' (यह पुरुष अन्नमय है)। आयुर्वेद का अभिमत है कि 'रसासृक्मंसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्राणि धातवः' (मनुष्य-शरीर में सात धातुएँ हैं खाये हुए अन्न से रस, रस से रक्त, रक्त से मांस, मांस से मेद, मेद से अस्थि, अस्थि से मज्जा, मज्जा से शुक्र बनता है)। इस रसपरम्परा में मूल रसायन पदार्थ के गुण ही संक्रान्त होकर ओज तक चले जाते हैं। जो हित-मित और सत् भोजन करता है, उसका प्रभाव उसके परिणामों पर पड़ता है; अतः शान्ति, सौमनस्य, प्रेम, दया, अहिंसा और विश्व-बन्धुत्व के लिए 'अन्नमय' आहार लेना आवश्यक है। अन्न-वर्जित आमिष-आहार का प्रभाव मनुष्य की मति, मेधा, प्रवृत्ति और भावनाओं पर होता है तथा उसे लोभी, दम्भी, स्वार्थी, कदाशय और हीन मनोवृत्ति का

बना देता है। आज शत-शत मनुष्यों में जो नैतिक पतन हो गया है, उसका कारण आहार-विवेक का न रखा जाना है। आहार-विवेक में केवल अन्न ही सम्मिलित नहीं है, अपितु अन्नोपार्जन में जो वृत्ति की शुद्धता है, वह भी कारण है। न्यायोपार्जित वित्त के क्रीत अन्न का ही परिणाम शुभोदयी होता है; क्योंकि बीज में ही वृक्ष के अशेष अवयव धर्म समाहित हैं। यदि बीज विषाक्त है, तो वृक्ष और उसके फल में माधुर्य का समावेश कैसे हो सकता है? 'यथा मूले तथा चूले।' यह सिद्धान्त साध्य और साधन के विषय में पश्चिम की नीति से भिन्नता रखता है। जहाँ दूसरों का मत है कि साधन कैसे भी हों, हमें तो साध्य को प्राप्त करना है, वहाँ जैन दर्शन की दृढ़ मान्यता है कि साध्य तक पहुँचने और उसकी पवित्रता रखने के लिए साधनों की शुचिता अपरिशंकनीय है। धर्म के दस लक्षणों को देखकर इस पवित्रता का अनुमान लगाया जा सकता है। धन-प्राप्ति के लिए न्यायमार्ग का समर्थन करते हुए अचौर्य-पालन की शिक्षा जैनधर्म देता है।

घटं भिंद्यात् पटं छिन्द्यात् कुर्याद् रासभरोहणम्।
येन केन प्रकारेण प्रसिद्धः पुरुषो भवेत्।।

प्रसिद्धि की दुर्दमनीय लालसा रखने वालों को लक्ष्य में रखकर कवि कहता है कि लोगों का ध्यान आकर्षित करने के लिए मनुष्य को चाहिए कि वह घड़े को पटक कर तोड़े, बीच बाजार में कपड़े फाड़ डाले, गधे पर बैठकर निकले, कोई भी उपाय करे और प्रसिद्ध हो। वहाँ येन-केन-प्रकारेण साधनों की विपर्यस्तता को सूचित करता है; किन्तु यह उचित तथा नीतिमय पन्थ नहीं है। जो प्रत्येक चरण उठाते समय सम्यक्त्व का चिन्तन करते हैं, उसे हृदय में रखते हैं, आँखों की पलकों पर उठाये हुए होते हैं, उनके क्रिया-कलापों में साधनों की विशुद्धि परम आवश्यक है। जीवन को विशुद्ध रखने के लिए इसी साधनशुचित्व को अन्तरंग में रखकर भगवान् आदिनाथ ने कृषि का उपदेश दिया। ❖❖

मेरी सुध लीजे रिषभ स्वाम, मोहि कीजे शिवपथ गाम।।
मैं अनादि भव भ्रमत दुखी अब, तुम दुख मेटत कृपाधाम।।
मोहि मोह घेरा कर चेरा, पेरा चहुंगति विपति-ठाम।।
विषयन मन ललचाय हरी मुझ शुद्ध ज्ञान सम्पत्ति ललाम।।
अथवा या जडको न दोष मम दुख-सुखता-परिणति-सकाम।।
भाग जगे तुम चरण जपे अब, वच सुनके गहे सुगुण-ग्राम।।
परम विराग ज्ञानमय मुनिजन जपत तुम्हारी सुगुण-दाम।।
निर्विकार संपति कृत तेरी छविपर वारों कोटि काम।।
भव्यन के भव हारन कारन सहज यथा तमहरन घाम।।
तुम गुणमहिमा-कथन करनको गिनत गणी निज बुद्धि खाम।।
'दौलत' तणी अज्ञान परिणति की हे जगत्राता ! कर विराम।।

—(दौलतविलास 34)

जम्बूस्वामी चरित्र — एक अध्ययन

✍ डॉ. विमल प्रकाश जैन

जम्बूस्वामी के जीवनचरित के संबंध में आगमिक साहित्य से लेकर संपूर्ण प्राकृत, अपभ्रंश एवं संस्कृत जैन साहित्य में प्रचुर सामग्री उपलब्ध है। इस सम्पूर्ण सामग्री के अध्ययन से यह प्रमाणित होता है कि जम्बूस्वामी जैन श्रमण-परम्परा में एक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक पुरुष थे, जिन्होंने ई.पू. 527 में भगवान् महावीर के तीर्थ में उनके साक्षात् शिष्य सुधर्माचार्य से जिन-दीक्षा स्वीकार की थी। अपनी अलौकिक प्रतिभा एवं कठोर तपःसाधना के कारण वे जैन श्रमण संघ के न केवल प्रधानाचार्य ही बने, बल्कि उन्होंने श्रमण-साधना की परम्परा और पुरातन आगमिक साहित्यिक सम्पत्ति को सुरक्षित रखने, उसका प्रचार-प्रसार करने तथा चिरस्थायी बनाने में भी अपना अभूतपूर्व एवं अद्वितीय योगदान दिया। प्रश्नों के माध्यम से जंबूस्वामी ने सुधर्माचार्य से सारे आगमों को सुनकर धारण किया और जंबूस्वामी से वह सारा ज्ञान उनकी शिष्य-संतति को प्राप्त हुआ और उनके द्वारा आगे की संततियों को। इस प्रकार गुरु-शिष्य परम्परा के द्वारा आगम साहित्य की स्थायी सुरक्षा तथा प्रचार-प्रसार, ये दोनों ही कार्य सिद्ध हुए।

आगमिक साहित्य में जंबूस्वामी के जीवनचरित के विषय में उपलब्ध सामग्री अत्यल्प है। बाद में जंबूस्वामीकथा एवं चरित साहित्य से उनके जीवन पर कुछ विशेष प्रकाश पड़ता है परन्तु ढाई हजार वर्ष पूर्व होने वाले इस महापुरुष के वास्तविक जीवनचरित की सामग्री, इस कथा के परंपरागत होने पर भी, कथा-अंतःकथाओं के ताने-बाने में दुःखद आश्चर्यकारक रूप से ऐसी खो गयी या छूट गयी है कि इनके जीवनचरित के सूत्र ऐतिहासिक संदर्भों के साथ पूर्ण रूप से जोड़ पाना आज संभव नहीं है। तथापि अद्यावधि प्राप्त समस्त ऐतिहासिक साहित्यिक सामग्री के आधार से उनके जीवन की प्रमुख घटनाओं—जन्म, दीक्षा, केवल-ज्ञानोपलब्धि, जैन श्रमण संघ का कुलपतित्व (आचार्यत्व) एवं मोक्षप्राप्ति—को ऐतिहासिक तिथियों के साथ जोड़ा गया है।

ऐतिहासिक जीवनचरित की दृष्टि से जम्बूस्वामी का चरित जितने महत्त्व का है, साहित्यिक कथानायक की दृष्टि से किसी भी प्रकार उससे कम महत्त्व का नहीं है। कामदेव सदृश सौंदर्य, कुबेर सरीखा वैभवविलास, बृहस्पति के समान अलौकिक प्रतिभा

एवं ऐंद्रियिक भोगविलास की वासना के दुर्निवार-दुर्दम्य जनक तथा प्रेरक अधिष्ठाता उद्दाम यौवनकाल में कामदेव की रति के समान अनुपम सुंदरी एकाधिक कन्याओं से विवाह; इन सारे स्वर्गोपम सुखसाधनों को लात मारकर, महावीर और बुद्ध के समान मुनि जीवन अंगीकार करके जीवन के चरमलक्ष्य-परिपूर्णबोधि अर्थात् केवलज्ञान और मोक्ष को प्राप्त करना, इन सारे तत्त्वों ने पाँचवीं-छठी शती ई. से लगाकर अद्यावधि गत पंद्रह सौ वर्षों में प्रत्येक शती में और देश के लगभग प्रत्येक राज्य में जैन साहित्यकारों को बलात् अपनी ओर आकृष्ट किया है। यही कारण है कि प्राचीन प्राकृत साहित्य से लेकर संस्कृत, अपभ्रंश, राजस्थानी, गुजराती और हिन्दी आदि विभिन्न भारतीय भाषाओं में जम्बूस्वामी चरित की एक सुदीर्घ परम्परा प्राप्त होती है, जो वसुदेव-हिंडी (प्राकृत) के रचयिता संघदास गणि (पाँचवीं-छठी शती ई.) से लगाकर बीसवीं शती तक अविच्छिन्न रूप से चली आयी है। 'जंबूस्वामी चरिउ' काव्य की रचना माघ शुक्ल दशमी वि.सं. 1076 के दिन पूर्ण हुई तथा इस रचना को पूर्ण करने में वीर कवि को एक वर्ष का समय लगा। इस काव्य में जंबूस्वामी की कथा निम्न प्रकार है :—

- *मगधदेश के राजगृह नगर में श्रेणिक नाम का राजा था, उसकी कई सहस्र सुन्दर रानियाँ थीं। एक बार भगवान् महावीर अपने समवशरण सहित विपुलाचल पर पधारे। राजा अपने समस्त परिवार, परिजन, पुरजन व सेना सहित भगवान् के दर्शनों को गया तथा स्तुति-वंदना करके उचित स्थान पर बैठ गया। श्रेणिक के अनुरोध करने पर भगवान् ने जीवादि तत्त्वों का उपदेश दिया। उसी समय एक महातेजस्वी देव अपनी चार देवियों सहित अपने आकाशगामी विमान से उतरा व भगवान् की वंदना करके समवशरण में देवताओं के कोठे में बैठ गया। श्रेणिक के प्रश्न करने पर भगवान् ने कहा— यह विद्युन्माली नाम का देव है, जो सातवें दिन स्वर्ग से च्युत होकर इसी नगर में मनुष्य रूप में जन्म लेगा व तप करके उसी भव से मोक्ष जायेगा। श्रेणिक द्वारा पुनः पूछे जाने पर भगवान् ने उस देव के पूर्व भवों की कथा इस प्रकार प्रारम्भ की— मगध देश में वर्द्धमान नाम का ब्राह्मणों का अग्राहार ग्राम है। वहाँ सोमशर्म नाम का वेदज्ञ ब्राह्मण रहता था, जिसकी सोमशर्मा नामक पत्नी थी। उनके दो शास्त्रज्ञ पुत्र हुए, बड़ा भवदत्त तथा छोटा भवदेव। कुछ काल पश्चात् व्याधिग्रस्त होकर सोमशर्म भगवान का स्मरण करता हुआ जीवित ही चिता में प्रविष्ट होकर मृत्यु को प्राप्त हुआ। पतिव्रता सोमशर्मा ने भी तत्क्षण चिता में जलकर पति का अनुगमन किया। उस समय बड़ा भाई भवदत्त अठारह वर्ष का था और छोटा भवदेव बारह वर्ष का। भवदत्त माता-पिता दोनों के वियोग को स्वजनों के धैर्य बंधाने पर किसी तरह सहन करते हुए न्याय-नीतिपूर्वक गृहस्थधर्म का पालन करने लगा। कुछ दिन बाद सुधर्म मुनि का उपदेश सुनकर भवदत्त को वैराग्य हो गया और छोटे भाई भवदेव को गृहस्थी का भार सौंपकर वह संघ में दीक्षित हो गया। बारह वर्ष पश्चात् मुनिसंघ विहार करते-हुए पुनः*

उसी गाँव में आया। गृहस्थ अवस्था के छोटे भाई भवदेव को भी दीक्षित करने की इच्छा से गुरु की अनुज्ञा लेकर भवदत्त मुनि भवदेव के घर आये। उस समय भवदेव का विवाह हो रहा था। मुनिराज के आगमन का समाचार सुनकर वह नववधू को अर्द्धमंडित ही छोड़कर तुरन्त बाहर आया और मुनिश्री के पूछने पर उसने बताया कि उसने इसी गाँव के दुर्मर्षण नामक ब्राह्मण व उसकी नागदेवी नामक पत्नी की नागवसू नामक कन्या से विवाह किया है। भवदेव के आग्रह पर भवदत्त मुनि वहीं आहार लेकर जहाँ संघ ठहरा था, वहाँ लौट चले। नगर के अन्य नर-नारी कुछ दूर तक मुनिश्री को छोड़कर नगर को लौट गये, पर मुनिश्री ने भवदेव को वापिस लौट जाने को नहीं कहा। अतः मुनिराज के प्रति श्रद्धा व लज्जा के कारण भवदेव घर जाने को अत्यंत उत्सुक होने पर भी लौट नहीं सका और मुनिश्री के साथ जहाँ संघ ठहरा था, वहाँ पहुँच गया। संघ में जाकर अन्य मुनिजनों की प्रेरणा से तथा भवदेव मुनि की भी वैसी ही अंतरंग इच्छा जानकर उनके सम्मान की रक्षा के लिए बे-मन से भवदेव ने आचार्यश्री से दीक्षा ले ली। तदनंतर संघ वहाँ से विहार कर गया। भवदेव दिन-रात नागवसू के ध्यान में लीन रहता हुआ घर लौटकर पुनः उसके साथ कामभोग भोगने के अवसर की प्रतीक्षा में समय व्यतीत करने लगा। बारह वर्ष पश्चात् मुनिसंघ पुनः उसी वर्द्धमान गाँव के निकट आकर ठहरा। भवदेव मुनि इससे बहुत उल्लसित हुए और बहाना करके मन में प्रेय व श्रेय वृत्तियों के द्वंद्व में पड़े हुए अपने घर की ओर चले। गाँव के बाहर ही एक जिन-चैत्यालय में उसकी नागवसू से भेंट हो गयी। व्रतों के पालने से अति कृशगात्र, अस्थिपंजर मात्र शेष रहने से भवदेव मुनि उसे पहचान नहीं सके। अपने कुल व पत्नी के संबंध में पूछने पर नागवसू उसे पहचान गयी कि यह भवदेव हैं, और धर्मच्युत होना चाहते हैं। तब नागवसू ने उन्हें अपना परिचय दिया और अपना तपः शुष्क शरीर दिखलाकर व नानाप्रकार से धर्मोपदेश देकर भवदेव मुनि को प्रतिबुद्ध किया। इस प्रकार बोध प्राप्त करके भवदेव मुनि ने आचार्य के समक्ष जाकर सब कुछ बतलाकर प्रायश्चित्त किया, पुनः दीक्षा ली और अति कठोर तप करने लगे। तप करके दोनों भाई मर कर तीसरे स्वर्ग में देव हुए।

मंदराचल से पूर्व दिशा में पूर्व-विदेह में पुंडरिंकिणी नाम की नगरी है। बड़े भाई भवदत्त का जीव स्वर्ग में अपनी आयु पूरी करके वहाँ के राजा वज्रदंत व उसकी रानी यशोधरा का सागरचंद्र नामक पुत्र हुआ। छोटे भाई भवदेव का जीव उसी वीताशोक नामक नगरी में वहाँ के राजा महापद्म और उसकी वनमाला नामक पट्टरानी का शिवकुमार नामक पुत्र हुआ। युवा होने पर उसका युवराज पद पर अभिषेक एवं अनेक राजकन्याओं के साथ विवाह हुआ। उधर पुंडरिंकिणी नगरी में सुबंधुतिलक नाम के एक महामुनि पधारे। उनसे धर्म श्रवण एवं दोनों भाइयों के पूर्वजन्म का ज्ञान प्राप्त करके कुमार सागरचंद्र वहीं दीक्षित हो गया। मुनि संघ के साथ विहार करते हुए मुनि

सागरचंद्र छोटे भाई भवदेव के जीव युवराज शिवकुमार को प्रतिबोध देने की इच्छा से वीताशोक नगरी में पधारे, उन्हें देखकर अपने पूर्वजन्म का स्मरण होने से शिवकुमार को भी वैराग्य हो गया और उसने माता-पिता से दीक्षा लेने की अनुमति माँगी परन्तु दीक्षा के लिए माता-पिता की अनुज्ञा न मिलने से घर में ही मंत्रीपुत्र दृढ़धर्म के हाथों का शुद्ध आहार लेते हुए अनेक वर्षों तक कठोर तप करके आयुष्य के अंत में संन्यासपूर्वक मरण किया। उसी तप के प्रभाव से पहले भवेदव फिर स्वर्ग में देव और फिर शिवकुमार का वह जीव विद्युन्माली नाम का यह अति तेजस्वी देव हुआ है। उधर बड़ा भाई भवदत्त, फिर देव और फिर सागरचंद्र मुनि का जीव भी आयुष्य पूरी करके स्वर्ग में देव हुआ। अब विद्युन्माली देव मनुष्य जन्म लेकर विद्युत्प्रभ नामक चोर के साथ दीक्षा लेगा।

विद्युन्माली देव की चार देवियों का पूर्वभव पूछने पर भगवान् ने कहा— भारतदेश में चंपानगरी में सूर्यसेन नाम का एक सेठ जयंभद्रा, सुभद्रा, धारिणी और यशोमती नाम की चार अतिसुंदर पत्नियों के साथ रहता था। कुछ काल बाद कर्मविपाक से सूर्यसेन को कुष्ठ आदि अनेक भयानक व्याधियाँ हो गयीं और वह अपनी पत्नियों से बड़ी ईर्ष्या रखने लगा तथा द्वेष व शंका से उन्हें नानाप्रकार की यातनाएँ देने लगा। एक बार वसंत ऋतु में नागयक्ष की यात्रा (पूजा) के अवसर पर वे चारों भी नागदेवता के दर्शन कर निकटस्थ वासुपूज्य भगवान् के मंदिर में गयीं। वहाँ सुमति नामक मुनि से उन्होंने श्रावकों के व्रत ले लिये। सूर्यसेन की मृत्यु के उपरांत सब संपत्ति मंदिर निर्माण में लगाकर चारों स्त्रियाँ सुव्रता आर्यिका के पास दीक्षित हो गयीं। वे ही चारों तप करके मरणोपरांत स्वर्ग में विद्युन्माली देव की चार प्रियाएँ हुई हैं।

पुनः विद्युत्प्रभ नामक चोर के संबंध में पूछने पर भगवान् ने कहा— मगधदेश में हस्तिनापुर नामक नगर में विसंध्र नाम के राजा व उसकी श्रीसेना नामक प्रिय रानी से विद्युत्प्रभ नाम का पुत्र हुआ जो चोरी के व्यसन के वशीभूत होकर पिता का राज्य छोड़कर राजगृह नामक नगर में आकर कामलता नामक वेश्या के घर में रहता है व चोरी का धन लाकर उसे देता है।

तब विद्युन्माली देव के जन्मकुल के संबंध में पूछने पर भगवान् ने कहा कि यह देव इसी राजगृह नगरी के निवासी व यहीं समवशरण में उपस्थित श्रेष्ठी अरहदास व उसकी प्रिय भार्या जिनमती के पुत्ररूप में जन्म लेगा। भगवान् के ये वचन सुनकर एक यक्ष अपने गोत्र की प्रशंसा करता हुआ प्रसन्नता के कारण उठकर नाचने लगा। इसका कारण पूछने पर भगवान् ने कहा कि इसी नगरी में धनदत्त नाम का सेठ रहता था। उसकी गोत्रवती नाम की भार्या थी। उसके दो पुत्र हुए, बड़ा अरहदास जो बहुत सज्जन व धर्मात्मा हुआ; और छोटा जिनदास जो जवानी के वेग में कुसंगति के प्रभाव से जुआ आदि व्यसनों में बुरी तरह पड़ गया। एक दिन वह जुए में छत्तीस सहस्र स्वर्ण मुद्राएँ हार गया। घर से मुद्राएँ लाकर देने का वचन देने पर भी छलक नाम के एक

जुआरी ने जिनदास से व्यर्थ झगड़ा करके उसके पेट में कटारी मार दी। यह सूचना मिलने पर बड़ा भाई अरहदास उसे घर ले गया और उचित उपचार किया पर वह बच नहीं सका परन्तु भाई के सदुपदेश से शुभ भावों से मरकर उसने यक्ष योनि में इस रूप में जन्म लिया है। अतः अपने पूर्वजन्म के पितृकुल के भाई के घर में अंतिम केवली के जन्म होने की बात सुनकर अपने गोत्र की प्रशंसा करता हुआ आनंद के कारण नाच रहा है। धर्म श्रवण करके व नानाप्रकार से श्रावक व्रतों को लेकर राजा सहित सब पुरजन नगर को लौट आये। सात दिन पश्चात् अरहदास की जिनमती भार्या ने सोते समय रात्रि के अंतिम प्रहर में पाँच मांगलिक स्वप्न देखे:—

(1) अत्यंत सुगंधित जंबूफलों का समूह (2) समस्त दिशाओं को प्रकाशित करनेवाला धूम्ररहित अग्नि (3) फूला हुआ व फलभार से नम्र सुगंधित शालिक्षेत्र (4) चक्रवाक् हंस आदि पक्षियों के मधुर कलरव से युक्त सरोवर (5) नाना मगरमच्छ-कच्छपादि से भरा हुआ विशाल सागर। इसी समय विद्युन्माली देव जिनमती के गर्भ में अवतीर्ण हुआ। नौ मास पूर्ण होने पर वसंत की शुक्ल पंचमी को सोमवार के दिन जब चंद्रमा रोहिणी नक्षत्र में विद्यमान था, प्रत्यूष काल में पुत्र जन्म हुआ। बहुत आनंद से पुत्र जन्मोत्सव मनाया गया। स्वप्न में जंबूफलों का प्रथमदर्शन होने से पुत्र का नाम जंबूस्वामी रखा गया। उचित समय पर बालक की शिक्षा-दीक्षा हुई और उसके रूप व गुणों की ख्याति चारों ओर फैलने लगी। वह जहाँ भी जाता, नगर की नारियाँ उसे देखकर अपनी सब सुध-बुध खो बैठतीं और कामबाणों से पीड़ित हो जातीं।

अरहदास के चार धनाढ्य-बालमित्रों ने अरहदास से बचपन में खेल-खेल में की हुई प्रतिज्ञानुसार अपनी-अपनी चार कन्याओं को (जो पूर्वभव में विद्युन्माली देव की चार देवियाँ थी), जिन्हें सब प्रकार की स्त्रीजनोचित विद्याओं व कलाकौशल की शिक्षा दी गयी थी, जो जन्म से ही अद्वितीय सुंदर थीं और दिन-दिन पूर्ण यौवन को प्राप्त हो रही थीं, जंबूस्वामी के लिए वधू रूप में स्वीकार करने का अनुरोध किया। जिनमती की अनुमति लेकर अरहदास ने इस प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार किया। पाँचों श्रेष्ठियों के घरों में विवाह की पूरी तैयारियाँ होने लगीं। इतने में वसंत आ पहुँचा। नगर के स्त्री-पुरुष युगलों के साथ राजा नगर से निकला और उपवन में पहुँचा। वहाँ यथेच्छ उद्यान क्रीड़ा की गयी। जंबूस्वामी ने भी उन्मुक्त भाव से कामिनियों के साथ हास-परिहास किया। पश्चात् सबने देर तक जलक्रीड़ा की। जलक्रीड़ा समाप्त करके जब सब लोग नगर में जाने की तैयारी कर रहे थे कि राजा का विषमसंग्रामशूर नामक पट्टहाथी बंधन तुड़ाकर भाग निकला और उसने नगर व उपवन में सर्वत्र मृत्यु एवं विनाश का भयावह दृश्य उपस्थित कर दिया। उसे कोई वश में नहीं कर सका। जंबूस्वामी ने सरलता से उस पर विजय प्राप्त कर ली। इस पर राजा ने जंबूस्वामी की बहुत प्रशंसा की।

विविध प्रकार से जंबूस्वामी का सन्मानादि करके राजा ने उसके साथ नगर में

प्रवेश किया और अपनी राजसभा बुलाई। एक दिन जब राजा जंबूस्वामी के साथ सभा में बैठा था, तो गगनगति नाम का विद्याधर अपने विमान से राजसभा में आकर उतरा और प्रणाम करके निवेदन करने लगा— देव, मैं सहस्रशृंग नामक पर्वत पर रहनेवाला गगनगति नामक विद्याधर हूँ। मलयाचल में केरल नाम की नगरी के राजा मृगांक से मालती लता नामक मेरी बहन ब्याही गयी है। उनकी विलासवती नाम की अपूर्व सुंदरी कन्या है। एक मुनिश्री के कथनानुसार उसका परिणय आपके साथ होना है उधर हंसद्वीप के प्रचंडबली विद्याधर राजा रत्नशेखर ने बलपूर्वक उस कन्या को प्राप्त करने हेतु अपनी सेना के साथ केरल नगर को चारों ओर से घेर लिया है तथा वहाँ बड़ा विनाश कर रहा है। अब अन्य कोई उपाय न देख, क्षात्रधर्म की रक्षा हेतु अपने सीमित सैन्य साधन से मृगांक राजा कल नगर से बाहर निकलकर रत्नशेखर से युद्ध करेगा और सर्वनाश को प्राप्त होगा। मैं भी वहीं जा रहा हूँ। रास्ते में आपकी सभा देखकर प्रासंगिक समाचार आपसे निवेदित कर दिया। उसके इतना कहने पर जंबूस्वामी राजा की अनुज्ञा लेकर, उसके साथ विमान में बैठकर अकेले ही केरल नगरी की ओर चल दिये। उधर राजा ने भी सेना के साथ प्रस्थान किया। रास्ते में विंध्याटवी को पार कर राजा ने विंध्यप्रदेश में प्रवेश किया। आगे रेवा नदी पड़ी और उसके तट पर कुरल पर्वत के निकट राजा ने सेना सहित पड़ाव डाल लिया। उधर गगनगति विद्याधर के साथ जंबूस्वामी केरल नगरी में पहुँचे और नगर के बाहर ही विमान से उतरकर मृगांक राजा के दूत बनकर रत्नशेखर की छावनी में प्रविष्ट हो गये। रत्नशेखर की सभा में पहुँचकर, दूसरे के निमित्त दी हुई कन्या को बलपूर्वक लेने के कदाग्रह पर उसे बहुत बुरा-भला कहा। इससे रत्नशेखर बहुत क्रुद्ध हो गया और उसने अपने भटों को जंबूस्वामी को पकड़कर मार डालने की आज्ञा दी। सभास्थल में ही भयानक युद्ध प्रारंभ हो गया। गगनगति ने जंबूस्वामी को एक दिव्य ढाल व तलवार भेंट की व स्वयं भी युद्ध करने लगा। जंबूस्वामी ने अकेले ही नाना प्रकार के पैंतरे बदलते हुए सहस्रों शत्रु भटों को मार गिराया व उसकी सेना को तितर-बितर कर दिया।

अपने चरों से यह सब समाचार पाकर मृगांक राजा ने तुरंत अपनी सेना को युद्ध में चलने की तैयारी करने के आदेश दिये। वीर वधुओं ने अपने प्रियतमों को नाना संदेश दिये। सेना ने नगर से प्रयाण किया। दोनों सेनाओं में भीषण युद्ध हुआ। गगनगति और रत्नशेखर विद्याधर में आकाश में युद्ध हुआ, उसमें गगनगति घायल हो गया। रत्नशेखर आकाश से नीचे उतरा और मृगांक राजा से युद्ध करके, उसे परास्त करके बाँधकर ले गया। इससे केरल राजा की सेना पराभूत भाव से निश्चेष्ट व अधोमुख होकर बैठ रही।

छावनी के भीतर से युद्ध करते हुए बाहर निकलने पर जंबूस्वामी को गगनगति से युद्ध के सब समाचार ज्ञात हुए, व जंबूस्वामी की प्रेरणा से केरल सेना पुनः युद्ध के लिए तत्पर हो गयी। दोनों सेनाएँ पुनः आमने-सामने डट गयीं। फिर वीरों का परस्पर

महान् युद्ध हुआ व अनेक कायर जन भाग खड़े हुए। इधर रत्नशेखर से सामना होने पर जंबूस्वामी ने उसे अपने साथ द्वंद्व युद्ध के लिए ललकारा जिससे व्यर्थ नरसंहार न हो। दोनों सेनाओं को अलग-अलग दूर हटा दिया गया। जंबूस्वामी एवं रत्नशेखर में महाभयानक युद्ध हुआ। जंबूस्वामी ने युद्ध में रत्नशेखर को परास्त करके बाँध लिया और मृगांक राजा को बंधन से छुड़ा लिया तथा मृगांक राजा के अनुरोध से केरल नगरी गये। वहाँ जाकर रत्नशेखर विद्याधरादि के अनेक विमानों के साथ कुमार ने मगध की ओर प्रयाण किया। इन सबके साथ पर्वत के निकट ही श्रेणिक राजा से भेंट हो गयी। राजा ने जंबूस्वामी व अन्य सबका समुचित स्वागत किया। गगनगति विद्याधर ने सबका परिचय दिया, विलासवती कन्या का राजा से परिणय हुआ। मृगांक व रत्नशेखर में मैत्री हो गई। सब लोग अपने-अपने स्थानों को विदा हुए। श्रेणिक राजा ने भी राजगृह की ओर प्रयाण किया। राजगृह नगर के बाहर उपवन में सुधर्म स्वामी 500 मुनियों के साथ विराजमान थे। राजा व अन्य सभी ने मुनि संघ की वंदना की।

सुधर्म स्वामी को देखकर अपने मन में अनायास उनके प्रति बड़ा स्नेह उमड़ आने से जंबूस्वामी ने सुधर्म स्वामी से इसका कारण पूछा। सुधर्मस्वामी ने भवदत्त-भवदेव के जन्म से लगाकर दोनों के पाँच भवों का वर्णन किया। तू पहले भवदेव था, मैं भवदत्त। तत्पश्चात् दोनों स्वर्ग में एक साथ देव हुए। अनंतर तू शिवकुमार हुआ, मैं सागरचंद्र। इसके पश्चात् फिर दोनों देव हुए। तू विद्युन्माली देव के रूप से च्युत होकर यहाँ जंबूस्वामी हुआ है; और मैं स्वर्ग से च्युत होकर इसी मगध देश में संवाहन नगर में सुप्रतिष्ठ राजा व रुक्मिणी रानी का सुधर्म नाम का पुत्र हुआ। एक दिन सुप्रतिष्ठ राजा सपरिवार महावीर जिनेन्द्र के समवशरण में गया और भगवान् का उपदेश सुनकर वहीं दीक्षित हो गया। सुधर्मकुमार ने भी उसी समय पिता के मार्ग पर अनुगमन किया। पिता भगवान् के चतुर्थ गणधर हुए और मैं सुधर्म उनका पाँचवाँ गणधर बना। वही मैं ऋषिसंघ के साथ विहार करते हुए यहाँ आया हूँ तथा वे जो तुम्हारी चार देवियाँ थीं, उन्होंने भी पूर्वजन्म के स्नेह से बंधे हुए सागरदत्तादि चार श्रेष्ठियों की चार अति सुंदर कन्याओं के रूप में जन्म लिया है। आज से दसवें दिन उनसे तुम्हारा परिणय होगा। यह सब इतिवृत्त सुनकर जंबूस्वामी को संसार से वैराग्य हो गया और उसने आचार्य से दीक्षा देने का अनुरोध किया व आचार्य के आदेश से घर जाकर माता-पिता से दीक्षा लेने की अनुमति माँगी। माता-पिता के अनेक प्रकार से पुत्र को समझाने व सांसारिक सुख भोगने के लिए प्रेरित करने पर जब वह किसी भी प्रकार नहीं माना तो उन्होंने कन्याओं के पिताओं को यह समाचार भिजवाकर अनुरोध कराया कि कन्याओं के लिए अन्य वर देख लिया जाये। कन्याएँ इसके लिए तैयार नहीं हुईं व अपने अपूर्व सौंदर्य और काम-चेष्टाओं द्वारा जंबूस्वामी को अपने वश में कर लेने के विश्वास से जंबूस्वामी को यह समाचार भिजवाया कि वे केवल एक दिन के लिए विवाह कर लें, अगले दिन

प्रातः दीक्षा ले लें, उन्हें कोई नहीं रोकेगा। जंबूस्वामी ने यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। श्रेष्ठ रीति से विवाह हुआ। विवाह के उपरांत जंबूस्वामी चारों वधुओं के साथ अपने घर आये तथा रात्रि समय अपने वासगृह में प्रविष्ट हुए। सब समागत मित्र-स्वजन अपने-अपने घरों को विदा हुए। वासगृह के द्वार निश्छिद्र रूप से बंद कर दिये जाने के उपरांत वधुएँ जंबूस्वामी को वश में करने के लिए नाना प्रकार की कामचेष्टाएँ करने लगीं परन्तु उन सब कामचेष्टाओं का जंबूस्वामी पर रंचमात्र भी कोई प्रभाव न पड़ते देखकर वधुओं को बड़ी निराशा हुई और उन्होंने क्रम से जंबूस्वामी पर व्यंग्य करते हुए उसे इंद्रिय-सुखों में प्रेरित करने के लिए प्रचलित लोक-कथाएँ सुनानी आरंभ कीं। जंबूस्वामी ने भी प्रत्येक वधू की कथा के उत्तर स्वरूप, उसके आशय को खंडित करनेवाली उतनी ही कथाएँ कहीं। इस प्रकार परस्पर में कथा वार्ता करते-करते आधी रात बीत गयी। इधर चोरी के हेतु वेश्यावाट में से निकलकर मिथुनों की कामक्रीड़ा को देखता हुआ विद्युत्प्रभ नामक चोर जंबूस्वामी के घर पहुँचा व भित्ति से लगकर छिपकर खड़ा हो गया परन्तु वर-वधुओं के सारे कथा-संलाप को सुनकर उसका चित्त बदल गया। जंबूस्वामी की व्याकुलता से जागती, बार-बार जाती-आती माँ ने उसे देख लिया व पूछा कि तू कौन है और क्या चाहता है? विद्युत्प्रभ ने अपना परिचय दिया और माँ की व्याकुलता का कारण पूछा। माँ से सब सुनकर उसने कहा— माँ, किसी तरह मुझे भीतर प्रवेश कराओ, तो मैं भी कुमार को समझाने का प्रयत्न करके देखता हूँ। यदि समझ जाये तो ठीक, अन्यथा मैं भी बिहान होते ही इसी के साथ तपश्चरण का अनुसरण करूँगा। माँ ने पुत्र की अनुमति लेकर अपना छोटा भाई कहकर उसे भीतर प्रवेश कराया। जंबूस्वामी ने छद्म मामा का उचित स्वागत अभिनंदन किया और पूछा कि मामा, इतने वर्षों तक आपने कहाँ-कहाँ भ्रमण किया। विद्युत्प्रभ ने दक्षिण दिशा में समुद्र से लगाकर, क्रमशः दक्षिण, पश्चिम, उत्तर व अंत में पूर्व में अपने भ्रमण किये हुए सब देशों के नाम लिये।

इसके उपरांत जंबूस्वामी की स्तुति करके विद्युत्प्रभ ने उसे भोगों की ओर प्रेरित करने के लिए भौतिक दर्शनों के तर्क दिये। जंबूस्वामी ने युक्तिपूर्वक विद्युत्प्रभ के समस्त तर्कों का खंडन कर उसे निरुत्तर कर दिया और अपने पूर्व जन्मों का वृत्तांत भी कहा। यह सुनकर विद्युत्प्रभ बोला, यदि किसी तरह तुम्हें पूर्वजन्मों में देवसुख प्राप्त हो गया तो बार-बार हृदयेच्छित सुख कहाँ से प्राप्त होंगे। इस संबंध में विद्युत्प्रभ ने उस ऊँट का आख्यान सुनाया जिसने एक बार कहीं मधु का स्वाद लेकर, मधु की आशा में अन्य कुछ खाना ही छोड़ दिया। इस पर जंबूस्वामी ने वणिक्पुत्र की कथा सुनायी। क्रमशः दोनों ने उत्तर-प्रत्युत्तर स्वरूप चार-चार कथाएँ कहीं। इस समस्त चर्चा के होते-होते विद्युत्प्रभ को भी प्रतिबोध हो गया और भक्तिपूर्वक जंबूस्वामी की स्तुति करके स्वयं भी उनके साथ दीक्षा लेने की इच्छा प्रकट की। जंबूस्वामी की चारों वधुओं व माता-पिता

को भी ज्ञान हो गया। ये सारे समाचार मिलने पर श्रेणिक राजा ने बड़े उत्साह से जंबूस्वामी का अभिनिष्क्रमण महोत्सव मनाया। जंबूस्वामी व राजा सहित सब कोई सुधर्माचार्य के पास पहुँचे। जंबूस्वामी ने एक-एक कर समस्त वस्त्राभूषणों को उतार फेंका, केश लोंच कर आचार्यश्री से दीक्षा ली। विद्युत्प्रभ ने भी दीक्षा ले ली। जंबूस्वामी के पिता अरहदास भी निर्ग्रंथ साधु हो गये। उनकी माता व चारों वधुएँ भी आर्यिकाएँ हो गयीं व कठोर तप करने लगीं। जंबूस्वामी गुरु के साथ रहकर बारह प्रकार का महान् तप करने लगे। अठारह वर्ष बीतने पर माघ शुक्ल सप्तमी के दिन प्रातःकाल विपुलगिरि के शिखर से सुधर्मस्वामी को निर्वाण को प्राप्त हुआ। उसी दिन जंबूस्वामी को भी कैवल्यज्ञान प्राप्त हुआ। देवताओं ने बड़ा उत्सव मनाया। इसके पश्चात् केवली जंबूस्वामी अठारह वर्षों तक धर्मोपदेश करते हुए अंत में विपुलगिरि के शिखर पर निर्वाण को प्राप्त हुए। माता-पिता व चारों वधुएँ तप करके समाधि एवं सल्लेखनापूर्वक मरण कर विभिन्न स्वर्गों में देव हुए।

जंबूस्वामी के निर्वाणगमन के उपरांत विद्युत्प्रभ मुनिसंघ के साथ विहार करते हुए ताम्रलिप्ति पधारे व नगर के बाहर ही ठहर गये। वहाँ भूत-पिशाचों ने समस्त संघ पर महान् उपसर्ग किया। महामुनि विद्युत्प्रभ को छोड़कर अन्य कोई मुनि उस उपसर्ग को सहन नहीं कर सके और योग-ध्यान छोड़कर चले गये। उस समय विद्युत्प्रभ मुनि बिल्कुल अडिग व निर्भय रहे। जैसे-जैसे वह घोर उपसर्ग बढ़ता गया, वैसे-वैसे मुनि अनित्य, अशरण, अशुचित्व आदि बारह भावनाओं का चिंतवन करते हुए कर्मों को काटने लगे। दशविध धर्मों का ध्यान व अनुप्रेक्षाओं की भावना करते हुए, परीषहों के वशीभूत न होकर, समाधिपूर्वक मरकर विद्युत्प्रभ मुनि सर्वार्थसिद्धि को प्राप्त हुए। वहाँ आयुष्य पूर्ण कर अगले भव में वे मोक्ष प्राप्त करेंगे।

महाकवि वीर के पूर्व जंबूस्वामीचरित की कथावस्तु संघदासगणि ने वसुदेवहिंडी में कथा की उत्पत्ति नामक प्रथम प्रकरण में, गुणभद्र ने उत्तरपुराण के छिहत्तरवें पर्व में तथा कवि गुणपाल ने गद्य-पद्य मिश्रित शैली में रचित प्राकृत जंबूचरियं में ग्रथित की है। पुष्पदंत ने अपभ्रंश महापुराण के उत्तरखंड में सौवीं संधि में 'जंबूसामि-दिक्खवण्णणं' में पूर्ण रूप से गुणभद्र का ही अनुकरण किया है। इन आचार्यों ने नायक को प्रत्यक्ष रूप में उपस्थित कर तदनंतर उसकी भव-परंपरा प्रस्तुत की है पर वीर कवि ने विद्युन्माली देव के चमत्कार से आकृष्ट हो श्रेणिक द्वारा उसके पूर्वभवों को जानने की जिज्ञासा व्यक्त करायी है। अतः कवि ने प्रारंभ में ही यह दिखलाने का सफल प्रयास किया है कि सर्वसाधारण विषयासक्त मनुष्य भी साधना के बल से भगवत्पद को प्राप्त कर सकता है। आत्मा परमात्मा है, पर उसकी यह शक्ति अप्रकटित है। इसे प्रकाश में लाने के लिए पुरुषार्थ अपेक्षित है। इस तथ्य को मन में निहित रखकर ही कवि ने नायक का उत्तरोत्तर विकास दिखलाया है। अतः आध्यात्मिक साधना की व्यंजना

उत्तरोत्तर वर्द्धमान है। कथावस्तु आरंभ से ही पाठक और श्रोता के मन में जिज्ञासा के साथ यह द्वंद्व उत्पन्न कर देती है कि भवदेव की भूमिका में जंबूस्वामी किस प्रकार आत्मोद्धार के लिए प्रयास करता है।

वसुदेव-हिंडी के कथा की उत्पत्ति नामक प्रथम अधिकार में मंगलाचरण के उपरांत जंबूस्वामी की कथा इसप्रकार प्रारम्भ होती है :–

● *मगध देश के राजगृह नामक नगर में श्रेणिक नाम का राजा था, व चेलना रानी। इनका कूणिक नामक पुत्र था। इसी राजगृह में ऋषभदत्त नामक सेठ था, जिसकी धारिणी नामक पत्नी थी। एक बार वह अर्द्ध-जाग्रत् अवस्था में निम्न पाँच स्वप्न देखकर जाग उठी– (1) धूम्ररहित अग्नि (2) पद्मसरोवर (3) फलभार से नम्र शालिक्षेत्र (4) धवल मेघ के समान श्वेत व उद्धत चतुर्दंतयुक्त हाथी (5) वर्ण-गंध व रसपूर्ण जंबूफल। उसी रात्रि को स्वर्ग से च्युत होकर विद्युन्माली देव का जीव धारिणी के गर्भ में अवतीर्ण हुआ। नौ मास पूर्ण होने पर बालक का जन्म हुआ एवं बालक के बड़े होने के साथ-साथ उसके रूप व गुणों की ख्याति सब ओर फैलती गयी।*

उसी काल में सुधर्मास्वामी राजगृह के गुणशील नामक चैत्य में संघ सहित पधारे। जंबूस्वामी सब लोगों के साथ आर्य सुधर्मा के दर्शनों को गये। आर्य सुधर्मा का उपदेश सुनकर जंबूस्वामी को वैराग्य हो गया और दीक्षा के लिए माता-पिता की अनुज्ञा लेने हेतु घर की ओर चले। नगर के एक द्वार पर भीड़ देखकर सारथी को रथ घुमाकर दूसरे द्वार से चलने को कहा। वहाँ शत्रु सैनिकों के घात के लिए शिला-शतघ्नी आदि शस्त्रों को डोर से लटकते हुए देखकर उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ कि यदि अचानक कोई शस्त्र ऊपर आकर गिरे तो बिना व्रत लिये ही मेरी मृत्यु होगी। यह विचार मन में आते ही जंबूस्वामी रथ लौटाकर पुनः आर्य सुधर्मा के पास गये और आजन्म ब्रह्मचर्य का व्रत लेकर घर आये। आकर माता-पिता से दीक्षा लेने की अनुमति माँगी। तब माता-पिता ने कहा कि धर्म श्रवण सब कोई करते हैं, पर कोई वैराग्य तो नहीं लेता। इस पर जंबूस्वामी ने कहा– धर्म श्रवण करने पर किसी को तत्त्वार्थों का निश्चय देर में होता है और किसी को तुरंत हो जाता है, तथा वह धर्म के मार्ग पर लग जाता है। इस संबंध में जंबूस्वामी ने उन पाँच मित्रों की कथा सुनायी जो एक बार उद्यान में गये। वहाँ तीर्थंकर केवली का दर्शन कर व उनका सदुपदेश सुनकर परस्पर विचार-विनिमय करके वहीं के वहीं दीक्षित हो गये तथा अंत में केवली होकर मोक्ष गये। अतः आप मुझे दीक्षा लेने की अनुमति दें। फिर भी माता-पिता ने जंबूस्वामी को विपुल संपत्ति से दुर्लभ विषयभोग भोगकर पीछे दीक्षा लेने को कहा। इस पर जंबूस्वामी ने उस वानर की कथा कही जो अपनी विषय लोलुपता के कारण अंत में शिलाजीत में चिपककर दुःखद अंत को प्राप्त हुआ। नानाप्रकार से समझाने पर भी जब जंबूस्वामी नहीं माने तो माता ने समुद्रश्री, सिंधुमती आदि उन आठ कन्याओं के माता-पिता के पास यह समाचार

भिजवाया जिनका बहुत पहले से ही जंबू के साथ वाग्दान किया जा चुका था। ऐसा जानकर कन्याओं ने कहा– जंबूस्वामी से हमारा वाग्दान हो चुका है अतः जो मार्ग उनका, वही हमारा। कन्याओं का ऐसा निश्चय जानकर जंबूस्वामी से उन कन्याओं के साथ विवाह कर लेने का अनुरोध किया गया, जिसे जंबूस्वामी ने स्वीकार किया। उचित तिथि-मुहूर्त्त में विधिपूर्वक विवाह संस्कार सम्पन्न हुआ और जंबूस्वामी वधुओं के साथ घर आकर वासगृह में प्रविष्ट हुआ।

उसी काल में जयपुरवासी विंध्य राजा का कलानिपुण प्रभव नामक पुत्र था, जो पिता के द्वारा छोटे भाई प्रभु को राज्य दे देने से रुष्ट होकर राज्य छोड़कर चला आया था और विंध्याचल की विषम तलहटी में चोर सरदारों के साथ चोरी करके जीवन-यापन करता हुआ रहता था। जंबूस्वामी का विवाह एवं अपरिमित दहेज ही बात सुनकर अपने साथी पाँच सौ चोरों के साथ अटवी से निकलकर, रात के समय नगरी में प्रविष्ट हुआ। तालोद्घाटनी विद्या से ताले खोलकर जंबूस्वामी के घर में पहुँचा, तथा अवस्वापिनी विद्या के बल से सबके सो जाने पर चोर सोते हुए लोगों के आभूषण आदि खोलने लगे। यह देखकर चोर की विद्या से अप्रभावित, अतः जागते हुए जंबूस्वामी ने ये निर्भीक वचन कहे— 'आमंत्रित लोगों को स्पर्श मत करना।' ये वचन सुनकर चोर स्तंभित जैसे हो गये। प्रभव ने जंबूस्वामी को देखकर अपना परिचय देकर कहा। मेरी दो विद्याएँ 'तालोद्घाटिनी व अवस्वापिनी' ले लीजिए और मुझे अपनी 'स्तंभिनी तथा मोचनी' विद्याएँ दे दीजिए। इस पर जंबूस्वामी ने कहा– मुझे सांसारिक विद्याओं से कोई प्रयोजन नहीं है। मैंने तो गणधर के पास संसारमोचनी-विद्या ग्रहण की है। प्रभात होते ही घर-परिवार सब छोड़कर मैं दीक्षा लूँगा। जंबूस्वामी के ऐसे वचन सुनकर प्रभव आश्चर्यचकित रह गया, व उसने भी यौवन में मानुषिक विषयसुख भोगकर पक्व वयः में दीक्षा लेना उचित बतलाया। विषयसुखों के संबंध में जंबूस्वामी ने प्रभव को 'मधुबिंदु आस्वाद' का दृष्टांत सुनाया। पुनः प्रभव के यह पूछने पर कि किस दुःख के कारण तुम अकाल में स्वजनों का त्याग करते हो, जंबूस्वामी ने गर्भावास दुःख के संबंध में ललितांगकुमार का आख्यान सुनाया। इसीप्रकार जंबूस्वामी ने सांसारिक संबंधों की असारता के विषय में कुबेरदत्त एवं कुबेरदत्ता का, पितरों को पिंडदानादि रूप लोकधर्म की असंगति के बारे में महेश्वरदत्त का तथा सांसारिक सुख व मोक्षसुख की तुलना के संबंध में एक कौड़ी के लिए सर्वस्व हार जाने वाले बनिये का तथा धन के सदुपयोग के बाबत गोपयुवक का, ये सब कथानक प्रभव को सुनाये। इस कथा-वार्ता के उपरांत प्रभव को भी बोध हो गया। प्रातःकाल होते ही जंबूस्वामी ने दीक्षा के लिए अभिनिष्क्रमण किया। जंबूद्वीप के अधिपति अनादृत (अणाढिय) देव ने स्वामी का अभिनिष्क्रमण महोत्सव मनाया। वैभारगिरि पर सुधर्मा गणधर के पादमूल में जंबूस्वामी ने दीक्षा ली। आर्य सुधर्मा ने प्रभव को जंबूस्वामी के शिष्यरूप में विहित किया। जंबूस्वामी की माँ

एवं वधुएँ भी सुव्रता आर्यिका की शिष्याएँ हो गयीं। थोड़े ही समय में जंबूस्वामी श्रुतकेवली हो गये।

कालांतर में आर्य सुधर्मा संघसहित विहार करते-करते चंपानगरी के पूर्णभद्र चैत्य में पधारे। कूणिक राजा उनकी वंदना करने आया व अति स्वरूपवान जंबूस्वामी को देखकर उनके पूर्वकृत तप, त्याग, दान, शील आदि के संबंध में विशेष जानकारी चाही। इस पर आर्य सुधर्मा ने उत्तर दिया कि पूर्वकाल में तुम्हारे पिता श्रेणिक को भगवान् महावीर ने जिस प्रकार यह कथा सुनायी थी, उसे कहता हूँ ध्यानपूर्वक सुनो। यह कहकर सुधर्मा ने बताया कि राजा श्रेणिक ने भगवान महावीर से राजऋर्षि प्रसन्नचंद्र के सम्बन्ध में जानने की जिज्ञासा व्यक्त की थी। भगवान महावीर ने श्रेणिक राजा को मुनि (राजर्षि) प्रसन्नचंद्र का कथानक विस्तार से कहा। तभी मुनि प्रसन्नचंद्र को केवलज्ञान उत्पन्न हो गया। देवता राजर्षि का कैवल्योत्सव मनाने आये। इस पर भगवान् महावीर से श्रेणिक ने पूछा— इनके बाद केवली कौन होगा? तभी महातेजस्वी विद्युन्माली देव अपनी चार देवियों सहित भगवान् की वंदना करने आया। उसकी ओर संकेत कर भगवान् ने कहा— यह देव, सात दिन बाद देवगति त्याग करके मनुष्य गति में अवतीर्ण होगा। उसकी असाधारण, असामान्य तेजस्विता के विषय में पूछने पर भगवान् ने श्रेणिक से कहा— इसी जनपद में सुग्राम नामक गाँव में आर्यव नाम का एक राष्ट्रकूट रहता था। उसकी रेवती नामक पत्नी थी। उनके दो पुत्र भवदत्त व भवदेव हुए। बड़ा भवदत्त युवावस्था में ही दीक्षित हो गया। कुछ काल बाद साधुसंघ विहार करते-करते पुनः उसी गाँव में आया। भवदत्त अनगार छोटे भाई भवदेव को दीक्षित करने की इच्छा से गुरु की अनुज्ञा लेकर भवदेव के घर गये। उसी समय भवदेव का विवाह हुआ था और वह कुल की रीति के अनुसार नवपरिणीता नागिला का मंडनकर्म कर रहा था। मुनिराज का आगमन सुनकर भवदेव नागिला को अर्द्धमंडित छोड़कर बाहर आया। आहारादि करके भवदत्त अनगार घर से निकले तथा भवदेव शीघ्र से शीघ्र घर लौटने की इच्छा करता हुआ बेमन से मुनिराज के साथ चला, व संघ में जाकर (मुनिराज पूर्व भाई) के सम्मान की रक्षा के लिए दीक्षा ले ली। बहुत काल बाद भवदत्त अनगार समाधिमरण करके स्वर्ग गये।

इधर भवदेव मन में पत्नी का ध्यान करता हुआ ब्रह्मचर्य पालने लगा। एक बार जब साधुसंघ पुनः उसी गाँव में आया, तो गुरु को कहे बिना ही अपने घर की ओर चल दिया और गाँव के बाहर ही एक मंदिर में विश्राम करने बैठा, तभी उसकी व्रतोपवास से क्षीण देहवाली पत्नी नागिला एक ब्राह्मणी के साथ उसी मंदिर में पूजा करने आयी। भवदेव उसे पहचान नहीं सका तथा उससे अपने माता-पिता और पत्नी के विषय में पूछा और नागिला से मिलने की इच्छा व्यक्त की। नागिला ने उसे पहचान कर अपना परिचय दिया, व भवदेव को बोध देने के लिए भोगपिपासा के कारण पाड़ा बनने वाले

ब्राह्मण पुत्र की कथा सुनायी। इतने में ब्राह्मणी का पुत्र कहीं से दूध-पाक जीमकर वहाँ आया व माँ से बोला— माँ एक थाली लाओ, उसमें अतिशय स्वादिष्ट दूधपाक का वमन करूँगा। अभी अन्यत्र जीमने जाता हूँ। पुनः भूख लगने पर अपने वमित दूधपाक को खाऊँगा। माँ ने कहा— बेटा वमन करके खाया नहीं जाता। भवदेव ने भी उसे धिक्कारा। इसी पर नागिला ने भवदेव को बोध दिया— तुम भी वमित (त्यक्त) नागिला और भोगों का भक्षण करना चाहते हो। इससे भवदेव को प्रतिबोध हो गया।

इसके पश्चात् भवदेव ने कठोर तप किया व सल्लेखनापूर्वक मरकर स्वर्ग गया। उधर भवदत्त देवायु पूरी करके पुष्कलावती देश में पुंडरीकिणी नगरी में वज्रदंत चक्रवर्ती व यशोधरा रानी का सागरदत्त नामक पुत्र हुआ एवं युवावस्था में ही एक बार मेरुपर्वत के समान महामेघ को क्षण भर में विलीन होते देखकर विरक्त हो गया और मुनिसंघ में दीक्षा ले ली। इधर भवदेव का जीव देवायु पूरी करके उसी देश में वीतशोका नगरी में पद्मरथ राजा की वनमाला देवी से शिवकुमार नामक पुत्र हुआ। युवा होने पर अनेक राजकन्याओं के साथ उसका परिणय करा दिया गया और वह भोग-विलासपूर्वक रहने लगा।

कालांतर में सागरदत्त मुनि संघसहित विचरते हुए वीतशोका नगरी में पधारे। उन्हें देखकर शिवकुमार को स्नेह उमड़ आया। कारण पूछने पर मुनिश्री ने अपने व शिवकुमार दोनों के अब तक के दो पूर्वजन्मों {भवदत्त-भवदेव (1), स्वर्ग में देवता (2)} की कथा सुनायी। यह सुनकर शिवकुमार को वैराग्य हो गया। माता-पिता से दीक्षा लेने की अनुमति न मिलने पर घर में ही रहते हुए मंत्रीपुत्र दृढ़धर्म के हाथों आहार लेते हुए बारह वर्षों तक उसने कठोर तप किया और पीछे समाधिपूर्वक देह-त्याग करके स्वर्ग में विद्युन्माली नामक महातेजस्वी देव हुआ। आज से सात दिनों बाद वह अपनी देवायु पूरी करके यह राजगृह में ऋषभदत्त सेठ की धारिणी नामक पत्नी के गर्भ में पुत्र रूप में अवतरित होगा। यह बात सुनकर जंबूद्वीप का अधिपति अनादृत देव अपने कुल की प्रशंसा करता हुआ उठकर नाचने लगा। कारण पूछने पर भगवान् ने श्रेणिक को कहा— इसी नगर में गुप्तिमति नाम का श्रेष्ठिपुत्र था। ऋषभदत्त व जिनदास उसके दो पुत्र थे। ऋषभदत्त शील सदाचारवान् था जबकि जिनदास मद्य-वेश्या एवं जुए का व्यसनी। ऋषभदत्त ने जिनदास से कोई संबंध न होने की घोषणा कर दी। एक बार एक सेनापति के साथ जुआ खेलते समय जिनदास ने कुछ घोटाला किया। इस पर सेनापति ने उसे शस्त्र से मारा। यह दुःखद समाचार मिलते ही ऋषभदास तुरन्त आया और औषधोपचार निमित्त जिनदास को घर ले गया। तब जिनदास को भारी पश्चात्ताप हुआ। भाई से अपने कुकृत्यों की क्षमा माँगकर, उससे सदुपदेश लेकर, भावतः समस्त आरंभ परिग्रह को त्याग कर अनशन धारण करके, सम्यक् आराधना करते हुए, समाधिमरण करके जिनदास स्वर्ग गया। वही यह जंबूद्वीप का अधिपति अनादृत नामक

देव है। मेरे कुल में अंतिमकेवली होगा, ऐसा जानकर यह देव अपने कुल की प्रशंसा करता हुआ प्रसन्नता के भावावेग से नाच रहा है। भगवान् के मुख से यह सारा वृत्तांत सुनने के अनंतर वह देव भगवान् की वंदना करके उनके समवशरण से उठकर अपने देवलोक को चला गया।

विद्युन्माली देव भी वहाँ से चला गया। पीछे उसके चारों देवियों के पूछने पर प्रसन्नचंद्र केवली ने बताया कि देवलोक में विद्युन्माली देव से वियोग प्राप्त कर, राजगृही में श्रेष्ठियों के रूप में जन्म लेकर तुम लोगों का पुनः संगम होगा और तुम लोग भी उसके साथ संयम धारण करके स्वर्ग में देव बनोगी। केवली के ऐसे वचन सुनकर देवियाँ भी उनकी वंदना कर चली गयीं।

वसुदेव-हिण्डी में उपलब्ध जम्बूचरित का संक्षेप में अध्ययन करने पर आगे दृष्टिपात करने से कथा की एक और परम्परा हमारे सामने आ जाती है, वह है गुणभद्राचार्यकृत उत्तरपुराण। जिसकी रचना 897 ई. से पूर्व ही पूर्ण की जा चुकी थी। उत्तरपुराण के 76वें पर्व में 1 से लगाकर 200वें श्लोक तक जम्बूस्वामी की कथा संक्षेप में इसप्रकार वर्णित है :—

● एक बार भगवान महावीर विहार करते-करते राजगृह नगर में आये और संघसहित विपुलाचल पर्वत पर पधारे। राजा श्रेणिक भगवान के दर्शनों को आया व उनकी स्तुति की। फिर गणधर गौतम की स्तुति करके, मार्ग में देखे हुए धर्मरुचि मुनि के ध्यान में लीन होने पर भी मुख पर विकृत भाव होने का कारण पूछा। गौतम स्वामी ने संक्षेप में धर्मरुचि मुनि का संपूर्ण वृत्तांत सुनाकर उनके मुख पर विकृत भाव आने का कारण बतलाया और श्रेणिक से कहा— जाओ, उनके कषाय-भाव शांत करो। श्रेणिक गया और गणधर के कथनानुसार मुनि को बोध देकर उनके भाव शांत कर उन्हें प्रसन्न कर आया। कुछ ही क्षणों में धर्मरुचि मुनि को केवलज्ञान हो गया। इंद्रादि देवों ने आकर उनकी पूजा की और श्रेणिक ने भी; तथा भगवान् के पास आकर गणधर से पूछा कि इनके बाद सबसे पीछे स्तुति करने योग्य कौन होगा? इतने में विद्युन्माली देव अपनी चारों देवियों सहित वहाँ आ पहुँचा और भगवान् की वंदना कर यथास्थान बैठा। उसकी ओर संकेत कर गणधर ने कहा— यह अंतिम केवली होगा। आज से सातवें दिन यह स्वर्ग से च्युत होकर इसी नगर के सेठ अर्हद्दास की स्त्री जिनदास के गर्भ में आएगा। इसके पहले जिनदासी पाँच स्वप्न देखेगी—हाथी, सरोवर, धान का खेत, ऊर्ध्वशिखा निर्धूमाग्नि व देवकुमारों द्वारा लाये हुए जामुन के फल। उनका नाम जम्बूकुमार होगा जो बहुत रूपवान्, भाग्यवान्, कांतिमान्, सर्व कलाकुशल व यौवन के आरंभ से ही विकार रहित रहेगा। मैं पुनः इसी विपुलाचल पर सुधर्म गणधर के साथ आऊँगा। चेलना का पुत्र इस नगर (राजगृही) का राजा कूणिक मेरा धर्मोपदेश सुनने आएगा व जंबूकुमार भी उपदेश सुनकर विरक्त होकर दीक्षा लेना चाहेगा, पर अपने भाई-बंधुओं के आग्रह

के कारण ऐसा नहीं कर सकेगा। फिर नगर के सागरदत्तादि चार सेठों की कन्याओं के साथ उसका विधिपूर्वक विवाह होगा और विवाह के उपरांत भी वह वधुओं के साथ आवास महल में निर्विकार भाव से पृथिवीतल पर बैठेगा। मेरा पुत्र अपनी वधुओं का वशवर्ती हुआ या नहीं, यह देखने की आकुलता से उसकी माँ स्नेहवश अपने आपको छिपाकर वहीं खड़ी होगी। उसी समय पोदनपुर नगर के राजा विद्युद्राज की रानी विमलमती से उत्पन्न हुआ विद्युत्प्रभ नाम का चोर जो अदृश्य होने आदि अनेक विद्याओं का जानकार होगा, चोरी करने अर्हद्दास के घर आयेगा। जंबूकुमार की माँ को जागी देखकर अपना परिचय देकर उससे इतनी रात तक जागने का कारण पूछेगा। माँ से सब बातें जानकर उससे प्रभावित अपने कर्मों की निंदा व धिक्कार करता हुआ तथा जंबूकुमार की महान् विरक्ति के संबंध में सोचता हुआ वह जंबूकुमार को समझाने हेतु उसके वासगृह में जायेगा, जहाँ जंबूकुमार सब वधुओं के बीच निर्विकार भाव से बैठा होगा। वहाँ जाकर वह जंबूकुमार को मीठा तृण खानेवाले ऊँट की कथा सुनाकर कहेगा कि इसी प्रकार उपस्थित भोगों को छोड़कर स्वर्ग सुखों की इच्छा करके तू भी उस ऊँट के समान मृत्यु को प्राप्त होगा। इसके उत्तर में जंबूकुमार दाह-ज्वर से पीड़ित वैश्य की कथा कहेगा। अंत में जंबूकुमार के तर्कों से विद्युच्चर को भी बोध प्राप्त होगा तथा जंबूस्वामी की माँ एवं वधुएँ भी संसार से विरक्ति भाव को प्राप्त होंगी। जंबूस्वामी के वैराग्य भाव को जानकर उसके सब स्वजन, सेना सहित कूणिक राजा व अनावृत देव आकर उसका दीक्षा अभिषेकोत्सव मनाएँगे। तब जंबूकुमार दिव्य यान पर चढ़कर बड़े जनसमूह के साथ विपुलाचल के शिखर पर मेरे ही पास आएगा तथा विद्युच्चर और उसके 500 भृत्यों के साथ सुधर्म गणधर के पास दीक्षा लेगा। केवलज्ञान के बारह वर्ष बाद मुझे निर्वाण होगा, तब सुधर्म को कैवल्य लाभ होगा। इसके बारह वर्ष बाद जब सुधर्मा के मोक्ष होगा, तब जंबू को कैवल्य लाभ और 40 वर्ष तक वे केवली अवस्था में धर्मोपदेश देते हुए विहार करते रहेंगे। इस कथा को सुनकर अनावृत नामक देव अपने वंश का माहात्म्यगान करता हुआ उठकर नाचने लगा। श्रेणिक के पूछने पर गौतम ने अनावृत देव का पूर्वभव अति संक्षेप में कहा– अर्हद्दास का भाई जिनदास व्यसनों में पड़कर दुरवस्था को प्राप्त होकर पश्चात्ताप करके मरकर देव हुआ।

विद्युन्माली देव के पूर्व भव कीसंपूर्णकथा, शिवकुमार और सागरदत्त तथा भवदेव और भवदत्त के जन्मों तथा चारों देवियों के आगामी जन्म में जंबूस्वामी को पत्नियाँ बनने का वृत्तांत सब कुछ वसुदेवहिंडी के अनुसार है। अंतर केवल इतना है कि भवदेव-भवदत्त के जन्म स्थान का नाम वृद्ध नामक गाँव, पिता राष्ट्रकूट नामक वैश्य, भवदेव की वधू का नाम नागिला के स्थान पर नागश्री और भवदेव को बोध देने का निमित्त नागश्री नहीं एक गणिनी को बतलाया गया है। गणिनी के कथनानुसार नागश्री की दारिद्र्य आदि से पीड़ित दुरवस्था को देखकर भवदेव को संसार की असारता एवं देह

की क्षणभंगुरता का बोध प्राप्त होकर सच्चा वैराग्य उत्पन्न हो जाता है।

वसुदेव-हिण्डी और गुणभद्रकृत उत्तरपुराण के मूल कथा गठन के परिप्रेक्ष्य में जब हम गुणपादकृत जम्बूचरियं के मूलकथा गठन एवं अंतःकथा गुंफन शिल्प पर विचार करके देखते हैं, तो एक सर्वथा परिवर्तित, नवीन एवं अपूर्व कथावस्तु हमारे सामने उपस्थित होती है। गुणपालकृत जम्बूचरियं में संक्षेप में कथा निम्न प्रकार है :–

● *जंबूद्वीप के राजगृह नामक नगर में श्रेणिक नाम का राजा था, उसकी चेलना नामक महादेवी थी। एक समय विपुलाचल पर भगवान् महावीर का समवशरण आया। राजा श्रेणिक भी भगवान् के दर्शनों के लिए नगर से निकले। रास्ते में प्रसन्नचंद्र मुनि के दर्शन हुए जिनके मुख पर ध्यानावस्था में ही नाना प्रकार के उतार-चढ़ाव आ रहे थे। समवशरण में जाकर श्रेणिक ने भगवान् से प्रसन्नचंद्र राजर्षि के संबंध में जानने की जिज्ञासा व्यक्त की। भगवान् ने राजर्षि का पूर्ण कथानक विस्तार से सुनाया। इतने में राजर्षि को केवलज्ञान हो गया और आकाश से देवगण उनका कैवल्योत्सव मनाने आये। 'राजर्षि के बाद अन्तिम केवली कौन होगा?' यह प्रश्न करने पर भगवान् ने अपनी चार देवियों सहित प्रसन्नचंद्र केवली की वंदना निमित्त वहाँ आये हुए अत्यंत तेजस्वी विद्युन्माली देव की ओर संकेत करके बतलाया कि यही देव अंतिम केवली होगा। विद्युन्माली देव की अतिशय तेजस्विता का कारण एवं उसके पूर्व-भव पूछने पर भगवान् महावीर ने उसके प्रथम भव से कथा प्रारंभ की। सुग्राम नामक ग्राम में भवदत्त-भवदेव दो भाई थे। सुस्थित नामक मुनि के संयोग एवं धर्मोपदेश से भवदत्त को वैराग्य हो गया और वह साधुसंघ में दीक्षित हो गया। कुछ काल बाद अनुज को भी दीक्षित करने के निश्चय से मुनि भवदत्त, संघ के पुनः अपने ग्राम में आने पर, अपने घर गये और नव-वधू के साथ सातफेरे (सप्तपदी) लेते हुए भवदेव को विवाह कार्य के बीच में से ही उसे नगर के बाहर जहाँ संघ ठहरा था, उस ओर ले जाने लगे। भवदेव घर लौटने की इच्छा से पूर्व-क्रीड़ित स्थानों को दिखलाता हुआ चला। मुनि 'हूँ, हाँ, स्मरण करता हूँ', ऐसा कहते हुए चुपचाप जैसे चलते रहे। भवदेव भी मुनिश्री (अग्रज) के सम्मान, मर्यादा एवं लज्जा के वशीभूत हुआ, उनकी अनुमति बिना घर न लौट सका और संघ में जाकर चुपचाप दीक्षित हो गया, पर सांसारिक सुखों का ही चिंतन करता रहा। कुछ काल बाद मुनि भवदेत्त के स्वर्गस्थ हो जाने पर अवसर पाकर भवदेव पुनः अपने घर की ओर चला। नगर के बाहर ही जिन चैत्यालय में नागिला (पत्नी) से भेंट हो गयी। उसने भोग-सुख की वासना से पाड़ा बननेवाले तथा अपने ही वमन को खाने की इच्छा करनेवाले ब्राह्मणपुत्रों के दृष्टांतों द्वारा भवदेव को बोध दिया। इसके उपरांत भवदेव कठोर तपस्या कर स्वर्ग में देव हुआ। स्वर्ग से आकर बड़ा भाई भवदत्त सागरदत्त के रूप में जन्मा और भवदेव राजपुत्र शिवकुमार के रूप में। सागरदत्त के दर्शन व संयोग से शिवकुमार को पूर्व जन्मस्मरण एवं वैराग्य हो गया। माता-पिता के*

आग्रह को न टाल सकने के कारण शिवकुमार घर में रहता हुआ ही कठोर तप करने लगा। सागरदत्त मुनि तप-साधना कर मोक्ष गये और शिवकुमार समाधिमरण कर स्वर्ग में विद्युन्माली नामक देव हुआ, जिसकी चार अत्यंत प्रिय देवियाँ हैं। यह सात दिनों बाद राजगृह के सेठ ऋषभदत्त की धारिणी नामक धर्मपत्नी के गर्भ में आयेगा तथा अत्यंत यशस्वी पुत्र होगा और 16वर्ष की अवस्था में दीक्षा लेकर अंतिम केवली होगा। ये चारों देवियाँ स्नेहवशात् इसकी पत्नियाँ बनेंगी। कुल आठ कन्याओं (4 पूर्व देवियाँ + 4 कन्याएँ) से इसका विवाह होगा।

उचित समय पर जंबूकुमार का जन्म हुआ। युवा होने पर सुधर्मा का उपदेश सुनकर उसे वैराग्य हो गया, पर माता-पिता के अत्यधिक आग्रह के कारण पूर्व वाग्दत्ता आठ कन्याओं से विवाह किया और अपने वासगृह में आकर निर्विकार भाव से बैठा। सब सो गये। प्रभव चोर अपने 500 साथियों के साथ चोरी करने आया। जंबूकुमार को जागते हुए देखकर उससे कथासंलाप करने लगा। जंबूकुमार ने सांसारिक सुखों के संबंध में मधुबिंदु दृष्टांत एवं रिश्ते-नाते और पिंडदान के संबंध में एक ही जन्म में अठारह नाते तथा महेश्वरदत्त के आख्यान सुनाये। बहुएँ भी जाग गयीं और पहले एक पत्नी द्वारा कथा, फिर जंबू द्वारा उसका उत्तर; फिर दूसरी पत्नी की कथा और उसका उत्तर, इस प्रकार कथा-प्रतिकथा के रूप में (1) मूर्ख किसान, (2) कौवा, (3) वानर-युगल, (4) इंगालदाहक, (5) नूपुरपंडिता, (6) मेघरथ विद्युन्माली, (7) शंखधमक, (8) यूथपति वानर, (9) बुद्धि-सिद्धि, (10) जात्यश्व, (11) ग्रामकूट पुत्र, (12) घोड़ीपालक, (13) माँ-साहस पक्षी, (14) तीन मित्र, (15) चतुर ब्राह्मण कन्या, (16) ललिता रानी, (17) बनिये और खदानें तथा (18) द्रव्याटवी-भवाटवी का दृष्टांत— ये सब आख्यान कहे गये। अंत के तीन आख्यान अकेले जंबूकुमार द्वारा सुनाये गये। सबको बोध हो गया। राजा कूणिक ने जंबूकुमार का दीक्षोत्सव बड़े उल्लास-उत्साह से मनाया। जंबूकुमार, उसके माता-पिता, वधुएँ व उनके माता-पिता एवं 500 साथियों सहित प्रभव, सबने दीक्षा ली। सुधर्मा कैवल्य प्राप्त कर मोक्ष गये। जंबूस्वामी संघ के प्रधान हुए और यथासमय मोक्ष गये। अन्य सब तप करके स्वर्ग को प्राप्त हुए।

वीर कवि के पूर्ववर्ती साहित्यकारों में महाकवि पुष्पदंतकृत महापुराण में जंबूस्वामीचरित वर्णित है। जो पूर्णतः गुणभद्रकृत उत्तरपुराण के अनुकरण पर रचित है। वीर कवि के बाद दिगम्बर आम्नाय ने ब्रह्म जिनदास एवं पं. राजमल्लकृत जंबूस्वामीचरित संस्कृत भाषा में सुन्दर काव्य शैली में रचित हैं। जो कुछ कम अधिक दोनों ही वीर कवि के चरित काव्य के लगभग पूर्णतया संस्कृत रूपान्तर हैं। अतः इनमें कोई नवीन सामग्री नहीं है।

'जंबूसामिचरिउ' की कथावस्तु के साथ उपर्युक्त कथा-रूपरेखाओं पर तुलनात्मक दृष्टिपात करके देखें तो हमारे सामने निम्न तथ्य स्वतः उपस्थित होते हैं :–

(1) वसुदेव-हिंडी तथा उत्तरपुराण दोनों में जंबूस्वामी की कथा का वह प्रारंभिक स्थूल प्रारूप दिखाई देता है जब कि वह आगम क्षेत्र से निकलकर पुराण एवं कथा साहित्य में अवतीर्ण हुई थी। इस समय तक इस कथा ने काव्य रचना के योग्य कथावस्तु ही नहीं, वरन् व्यवस्थित चरित कथा का भी रूप धारण नहीं किया था। इन दोनों ग्रन्थों में जिस स्थल पर एवं जिस रूप में जंबूस्वामी के अंतिम केवली भव की कथा कही गयी है, उससे स्पष्ट है कि अन्य पूर्वभवों की कथा से इसका कोई वास्तविक संबंध नहीं है। केवल विद्युन्माली के भव का कुछ संबंध मालूम पड़ता है, वह भी घनिष्ठता से नहीं। जंबूस्वामी के भव का वृत्तांत जान लेने के उपरांत पाठक को वास्तव में उसके पूर्वभव जानने की कोई जिज्ञासा नहीं रह जाती। विद्युन्माली देव से कथा का संबंध जोड़कर किसी तरह कुछ जिज्ञासा और उसके साथ अन्य भवों के विषय में भी कुछ उत्सुकता उत्पन्न की जाती है।

(2) राजर्षि प्रसन्नचंद्र अथवा धर्मरुचि का जो आख्यान इनमें मिलता है, उसका मूलकथा से बिलकुल कोई संबंध नहीं है।

(3) शिवकुमार सागरदत्त तथा भवदेव-भवदत्त के आख्यानों को ऊपर से किसी तरह आरोपित किया गया है, यह बिलकुल स्पष्ट प्रतीत होता है, क्योंकि नायक का वर्तमान भव पूर्ण जान लेने के उपरांत, पिछले भवों की अधिकांश जिज्ञासा स्वयमेव शांत अथवा नष्टप्राय हो जाती है अर्थात् इन ग्रंथों में पाँचों भवों की कथाओं में कोई वास्तविक संबंध तो प्रतीत नहीं हो पाता, इसके विपरीत ऐसा अनुभव होता है कि जंबूस्वामी के एक भव के संक्षिप्त वृत्त के साथ, अन्य भवों की कथाएँ स्रोतों से लेकर सबको किसी प्रकार एक ही कथावस्तु के साँचे में भर दिया गया है।

(4) कथाक्रम भी दोनों में व्यवस्थित नहीं है। वसुदेव-हिंडी में पहले जंबूस्वामी, फिर विद्युन्माली, उसके पश्चात् भवदत्त-भवदेव का भव तथा अंत में सागरदत्त-शिवकुमार की कथा कहकर उनका विद्युन्माली और फिर जंबूस्वामी से संबंध स्थापित किया गया है। उत्तरपुराण में क्रम और भी विचित्र है, पहले विद्युन्माली देव का आना, फिर जंबूस्वामी का चरित, फिर विद्युन्माली के पूर्व-भव में शिवकुमार-सागरदत्त का चरित और इसी भव में सागरदत्त से भवदत्त और भवदेव के पूर्व-भव की कथा कहलायी गयी है। इस प्रकार के क्रम से कथा में एक विश्रृंखलता आ गयी है, जिससे पाठक की जिज्ञासा का ह्रास होता है और वह श्रांत-थकित-सी हो जाती है।

(5) उत्तरपुराण में भवदेव को उसकी त्यक्त पत्नी से नहीं, वरन् एक साध्वी से बोध दिलाकर कथा का एक और उत्कृष्ट मार्मिक स्थल नष्ट कर दिया गया है।

(6) जंबूस्वामी की आठ या चार पत्नियों के संबंध में पूर्व भव का कोई वृत्तांत नहीं है।

(7) जंबूस्वामी तथा सुधर्मा का पूर्वजन्म का कोई संबंध इन ग्रंथों में दिखलाया नहीं गया। बस, भवदत्त-भवदेव में अग्रज-अनुज संबंध तथा सागरदत्त-शिवकुमार के भव में

पूर्व संबंध जनित आकस्मिक अनुराग एवं तज्जन्य पूर्व-जातिस्मरण मात्र का उल्लेख है।

(8) नायक जंबूस्वामी में और वीर भाव को प्रकट करने की कोई आवश्यकता इन्हें प्रतीत नहीं हुई अथवा ऐसा करने का कोई सुयोग अपनी रचनाओं में ये नहीं जुटा पाये।

उपर्युक्त मुद्दों पर विचार करने से ऊपर लिखे अनुसार यह तथ्य और भी स्पष्ट हो जाता है कि इनमें वर्णित मूल-जंबूकथा तथा उसके भव-भवांतरों की अन्य कथाओं एवं अंतःकथाओं में कोई अविच्छेद्य-अखंडनीय संबंध नहीं है। अतः ये सब मिलकर किसी सुव्यवस्थित-सुगठित चरित-कथा का निर्माण नहीं करतीं और स्पष्टतया कथाकथन मात्र के उद्देश्य से ऊपर से जैसे-तैसे आरोपित की गयी आभासित होती हैं, जिससे इनमें वर्णित चरित-कथा अनेक लघुकथाओं के संकलन के समान प्रतीत होती है।

वसुदेव-हिंडी तथा उत्तरपुराण की जंबूचरित-कथा के अध्ययन से एक अति महत्त्वपूर्ण तथ्य यह भी प्रकट होता है कि शुद्ध साहित्य में दिगम्बर, श्वेताम्बर जैसा आम्नाय-भेद तब तक स्थापित नहीं हुआ था। विमलसूरि के प्राकृत पउमचरियं तथा आचार्य जिनसेनरचित पद्मपुराण के अध्ययन से भी यह तथ्य पुष्ट होता है।

गुणपाल कृत जंबूचरियं का विश्लेषण करने से निम्न बातें प्रकट होती हैं :–

(1) गुणपाल ने कथाक्रम को पूर्णतः परिवर्तित कर, विद्युन्माली देव से प्रारंभ कर, भवदत्त-भवदेव, देवगति, सागरदत्त-शिवकुमार, सागरदत्त को मोक्ष एवं शिवकुमार का विद्युन्माली देव के रूप में जन्म लेना और यहाँ से जंबूस्वामी के जन्म से लेकर मोक्ष जाने तक के वृत्त को अत्यन्त सुन्दर, सुगठित, सुसंबद्ध तथा महाकाव्य रचना के सर्वथा योग्य आयाम में सजाया-सँवारा है।

(2) राजर्षि प्रसन्नचंद्र के कथानक को गुणपाल भी संभवतः पूर्वपरम्परा के आग्रह के कारण छोड़ नहीं सके।

(3) शिवकुमार-सागरदत्त एवं भवदेव-भवदत्त के आख्यानों को सुसंबद्ध रीति से इस प्रकार लिया गया है कि वे मूलकथा के अनिवार्य-अविच्छेद्य अंग बन गये हैं। शिवकुमार एवं कनकवती का परस्पर प्रेमाख्यान बहुत सुन्दर व रोचक है तथा अन्य सभी जंबूचरितों से अतिरिक्त है। इस कथा का आधार समकहा के द्वितीय भव में सिंहकुमार-कुसुमावली की प्रणय कथा है।

(4) कथाक्रम बिलकुल सुव्यवस्थित है, जिससे पाठक की जिज्ञासा और कुतूहल आद्योपांत निरंतर बने रहते हैं।

(5) वसुदेव हिंडी के समान भवदेव को उसकी पत्नी नागिला के द्वारा ही बोध-प्राप्ति करायी गयी है।

(6) जंबूस्वामी की आठ पत्नियों के संबंध में पूर्वभव का कोई वृत्तांत इसमें भी नहीं है।

(7) जंबूस्वामी सुधर्मा का कोई पूर्व-संबंध यहाँ भी स्थापित नहीं किया गया है।

(8) नायक में वीरता का गुण प्रकट करने का इन्हें भी कोई विचार नहीं आया।

जंबूस्वामी कथा की पूर्व-परंपरा का गंभीरता से अध्ययन करने पर यह स्पष्ट प्रकट होता है कि वसुदेवहिंडी के पूर्व दिगम्बर, श्वेताम्बर संपूर्ण आगम साहित्य में 'जंबू काश्यप गोत्रीय थे, वे सुधर्मा के शिष्य थे, सुधर्मा ने जंबू के प्रश्नों के उत्तर-स्वरूप सारे अर्द्धमागधी आगमों को उन्हें कहकर सुनाया। सुधर्मा के मोक्ष जाने पर जंबू को केवलज्ञान हुआ और 40, 44 वर्ष जैन साधु संघ के प्रधान रहकर जंबू को मोक्ष प्राप्त हुआ, तथा जंबू इस काल में अंतिम केवली हुए– इन सूचनाओं के अतिरिक्त जीवनचरित-विषयक अन्य कोई भी सामग्री उपलब्ध नहीं होती। तब यहाँ यह प्रश्न होता है कि संघदास गणि ने जंबूचरित कथा का निर्माण किस प्रकार किया? क्या शुद्ध निजी कल्पना से? अथवा उनके सामने कोई और अज्ञात आधार होना संभव है? जंबू के चार या आठ कन्याओं से विवाह करके भी, भरपूर यौवन में बिना इंद्रिय सुखभोग लिये, विरक्त होकर दीक्षा लेने का वृत्त मौखिक-परंपरा के माध्यम से भी संघदास को प्राप्त होना संभव है। फिर भी यह प्रश्न तो रह ही जाता है कि भवदत्त-भवदेव जन्म की अत्यंत रसात्मक व मार्मिक कथा किस तरह, कहाँ से, संघदास ने जंबू के जीवन चरित से जोड़ दी?

इस कथा के मूलस्रोत की शोध में अन्य भारतीय साहित्यपर दृष्टिपात करने से प्राचीन संस्कृत साहित्य में जो रचना बलात् हमारा ध्यान आकृष्ट करती है, वह है बौद्ध महाकवि अश्वघोष कृत सौंदरनंद काव्य। कीथ प्रभृति संस्कृत साहित्य के इतिहासकार विद्वानों के मतानुसार अश्वघोष को भास व कालिदास से पूर्ववर्ती होना चाहिए। इनका अनुमानित जीवनकाल ई. पूर्व प्रथम शती माना जाता है।

इस काव्य की 'कथावस्तु' जंबूस्वामी के पाँच भवों में से उनके प्रथम और अंतिम इन दो भवों के वृत्त से संक्षेप में मेल रखती है। यहाँ जंबूस्वामी के पाँचवें पूर्वजन्म में भवदेव ने भाई की मर्यादा की रक्षा के विचार से वैराग्य लिया, और 12 वर्षों तक मुनिवेश में रहकर भी पत्नी का ही ध्यान करता रहा। फिर पत्नी से मिलने आया, तब उसी ने बोध देकर पतन होने से बचाया। फिर देव हुआ। फिर शिवकुमार के जन्म में बड़े भाई के जीव सागरदत्त मुनि के दर्शन से उसे प्रतिबोध हुआ। घर पर रहकर ही तपस्या की। फिर देव हुआ, और अंत में जंबूस्वामी। इस जन्म में चार नव-विवाहित वधुओं को छोड़कर दीक्षा ली, तप किया, कैवल्य प्राप्त किया और फिर मोक्ष। यह पाँच जन्मों की कथा पूर्ण हुई।

दूसरी ओर सौंदरनंद काव्य में गौतम बुद्ध के अपनी दूसरी माँ से उत्पन्न सगे भाई नंद का चरित्र वर्णित है। बुद्धत्व–प्राप्ति के उपरांत जब गौतम कपिलवस्तु के आराम-प्रांगणों में जीवों को चार आर्यसत्यों व अष्टांगिक-मार्ग का उपदेश देते हुए विहार कर रहे थे, उसी कपिलवस्तु के राजमहलों में उन्हीं का सगा भाई नंद, बुद्ध के आगमन से सर्वथा निरपेक्ष रहकर अपनी प्रियतमा सुंदरी के साथ भोग-विलास में डूबा हुआ था। बुद्ध ने भिक्षा के लिए नंद के प्रासाद में प्रवेश किया, पर वहाँ किसी का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट न होने से भिक्षा लिये बिना ही वापस वन को लौट चले। प्रासाद की छत

पर खड़ी एक दासी ने बुद्ध को लौटते देखकर नंद को इसकी सूचना दी। इससे नंद दुःखित हुआ। वह तुरंत लौट आने का वचन देकर, क्षण-भर के लिए भी जिसे प्रियतम का वियोग असह्य था, ऐसी अपनी प्रियतमा से मुनि को प्रणाम करने जाने की अनुमति मांगकर, एक ओर प्रिया के स्नेह के अदम्य आकर्षण तथा दूसरी ओर गुरु-भक्ति के द्वंद्व के झूले में झूलता हुआ और प्रिया के अनुपम रूप का ध्यान करता हुआ मुनि के दर्शनों को चला। गौतम मार्ग में ही मिल गये। नंद ने मुनि से घर चलकर भिक्षा लेने का अनुरोध किया, परंतु गौतम ने उसे स्वीकार नहीं किया, तथा उसके ऊपर (प्रव्रज्या-दान रूपी) अनुग्रह की बुद्धि से भिक्षापात्र उसी के हाथ में दे दिया। परंतु भिक्षा पात्र हाथ में होने पर भी जब नंद घर लौटने की इच्छा से मार्ग से हटने लगा, तब गौतम अपनी दिव्य शक्ति के द्वारा उसका मार्गावरोध करके बलात् नंद को संघ में ले गये। वहाँ उपदेश देकर उसे दीक्षित होने को कहा। लज्जावश एक बार हाँ कहकर फिर स्पष्टतः मना करने पर भी किसी-किसी तरह समझा-बुझाकर गौतम ने प्रिया की याद में रोते हुए नंद का भिक्षुओं द्वारा मुंडन कराकर उसे आनंद के शिष्य रूप में भिक्षु बना लिया। नंद की नव परिणीता पत्नी सुंदरी का नाना संकल्प-विकल्पों से युक्त अत्यंत कारुणिक विलाप है, जिसे पढ़कर कोई भी सहृदय पाठक द्रवीभूत हुए बिना नहीं रहता। नंद का विलाप है, और प्रिया के स्मरण से उत्पन्न नंद की दुःखद अवस्था का अतिशय मार्मिक चित्रण है। नंद एक ओर भौतिक सुख के सर्वसाधन-संपन्न अपने महल में लौटकर अपनी दिव्य रूपवती पत्नी सुंदरी के साथ समस्त इंद्रिय भोगों को भोगना चाहता है, दूसरी ओर गुरु और उनके प्रति भक्ति व लज्जा उसे घर जाने से रोकते हैं। इस अंतर्द्वंद्व में नंद की स्थिति प्रतिक्षण और भी अधिक दुःखद होती जाती है और इसी अंतर्द्वंद्व की स्थिति में काम से अभिभूत होनेवाले पूर्व मुनियों के चरित्रों का स्मरण कर एक दिन ऐसा आ ही जाता है जब वह 'कुलीन व्यक्ति के लिए भिक्षुवेष' ग्रहण करके छोड़ना उचित नहीं, यह जो मेरा विचार है, वह भी नष्ट हो जाता है, यह सोचकर कि वे वीर नृपति तपोवन को छोड़कर अपने घरों को लौट गये, इस विचारधारा के द्वारा अपने विवेक को तिलांजलि देकर घर लौट जाने का निश्चय कर लेता है। उससे अश्रुपूर्ण लोचन और इस प्रकार की मानसिक स्थिति से एक निकटवर्ती भिक्षु उसके उस निश्चय को भाँप लेता है, और नाना प्रकार से स्त्री शरीर की अशुचिता, रोगों का घर आदि उपदेशों द्वारा उसे भिक्षु जीवन में स्थिर करने का प्रयास करता है। विश्वास प्राप्त कर लेने पर नंद अपने अंतर्मन की बात स्पष्ट रूप से भिक्षु से कह देता है कि प्रियतमा के बिना एक क्षण भी उसका मन यहाँ नहीं लगा। भिक्षु उसे फिर समझाता है, कहता है– तू फंदे में से निकलकर फिर उसी में फंसना चाहता है, तू अपने ही वमन (त्यक्त पत्नी और कामभोग) को फिर से खाना चाहता है आदि और नाना प्रकार से स्त्री की निंदा करता है। पर नंद के ऊपर इस सब उपदेश का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। भिक्षु जब उसे

समझाकर हार गया, तब नंद की मनःस्थिति गौतम से जाकर कह दी। नंद ने गौतम के सामने भी अपना घर लौट जाने का निश्चय दृढ़ता से साफ-साफ कह दिया। तब गौतम पुनः अपनी दिव्य शक्ति का प्रयोग कर नंद को स्वर्ग ले गये। वहाँ की अप्सराओं का रूपविलास एवं उन्मुक्त मादक क्रीड़ाएँ देखकर नंद का चित्त उनमें मोहित हो गया और वह अपनी प्रिया को भूलकर स्वर्ग की अप्सराओं की प्राप्ति के लिए तप करने लगा। नंद को स्वर्ग-सुखों के ध्यान में लगे देखकर आनंद ने उसे उन सुखों के विनश्वरता का ज्ञान कराया और नाना प्रकार से स्वर्ग की निंदा की। अंत में नंद का हृदय शुद्ध हो गया और वह सच्चा वीतराग बनकर सन्मार्ग पर लौट आया। अब उसने गौतम बुद्ध के समक्ष पूर्ण आत्मसमर्पण कर दिया और शुद्ध निर्वाण-मार्ग पर चलने लगा। आर्यसत्य आदि बौद्ध दार्शनिक तत्त्वों की व्याख्या की गयी है। नंद को अर्हत् पद प्राप्त होने का वर्णन किया गया है। इस प्रकार यह कथा जंबूस्वामी के केवली बनने तक के वृत्तांत से समानता रखती है।

नंद के इस आख्यान से जंबूस्वामीचरित कथा का संबंध स्थापित करते समय यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि क्या वसुदेव-हिण्डी के रचयिता संघदास को अश्वघोष की यह उत्कृष्ट काव्य कृति उपलब्ध हो सकी होगी या नहीं? इस संबंध में ऐतिहासिक स्थिति यह है कि 10वीं शती ई. तक नालंदा (बिहार) वलभी (गुजरात) तथा 12वीं शती ई. तक विक्रमशिला (भागलपुर, बिहार) के बौद्ध विश्वविद्यालय अपने चरम उत्कर्ष पर रहे, तथा ये संपूर्ण भारत देश के सबसे बड़े अध्ययन केन्द्र थे। इन विश्वविद्यालयों में संस्कृत का अध्ययन अनिवार्य रूप से किया जाता था, और इनकी साहित्य संपत्ति का कोई पारावार नहीं था। इस परिस्थिति में महाकवि अश्वघोष की ऐसी सुंदर काव्य-कृति का अत्यंत लोकप्रिय एवं सर्वप्रचलित होना एक बिलकुल सामान्य बात है, और जैन विद्वानों के सदा से उदार व्यापक एवं जिज्ञासु दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर यह बात और भी अधिक बलपूर्वक कही जा सकती है कि संघदास गणि जैसे महान् साहित्यकार ने ऐसी सर्वप्रसिद्ध तथा महान् काव्य-रचना का अध्ययन अवश्यमेव किया होगा। स्वयं वसुदेवहिंडी के अध्ययन से यह प्रतीत होता है कि जंबू के जीवनचरित के साथ भवदत्त-भवदेव की कथा का कोई घनिष्ठ वास्तविक संबंध नहीं है, तथा उसके साथ यह कथा बिलकुल अलग से जोड़ी गयी है, यह बात वसुदेव हिंडी के कथा विश्लेषण से स्वतः झलकती है। जंबूस्वामी की कथा को रसात्मक बनाने के हेतु से नाम बदलकर बाहर की किसी कथा को समाविष्ट कर लेना कोई असाधारण घटना नहीं है। नंद तथा भवदत्त के आख्यानों के कथा-तत्त्वों का तुलनात्मक विश्लेषण करने से भी उपर्युक्त कथन की पुष्टि होती है।

नंद और उसकी पत्नी सुंदरी का परस्पर अत्यंत प्रगाढ़ अनुराग; एक ही पिता

के सगे-मौसेरे भाई बुद्ध द्वारा उसे निर्वाण मार्गपर लगाने का प्रयत्न, नंद के घर जाना, किसी का ध्यान बुद्ध की ओर न जाने से भिक्षा न मिलना, बुद्ध का रिक्त भिक्षापात्र हाथ में लिये नगर से बाहर लौट पड़ना; एक सेविका के द्वारा नंद को यह सूचना मिलनेपर, शीघ्र लौट आने का वचन देकर, पत्नी की अनुमति ले उसी का रूप-चिंतन करते हुए बुद्ध के दर्शनों को जाना, और बुद्ध के द्वारा अनुग्रह बुद्धि से नंद के हाथ में रिक्त भिक्षा-पात्र दिया जाना, नंद की घर लौटने की प्रबल इच्छा, बुद्ध-द्वारा उसे दिव्य शक्ति से व्यामोहित कर संघ में ले जाना; नंद की अनिच्छा और स्पष्ट अस्वीकार करने पर भी उसका सिर मुंडाकर उसे प्रव्रजित कर लेना, नंद का विलाप और सुंदरी का ही निरंतर चिंतन, उसे समझाने के सब प्रयासों की विफलता होने पर बुद्ध-द्वारा उसे स्वर्गदर्शन, और फिर स्वर्ग सुखों की भी क्षणिकता दिखलाकर सच्चे निर्वाण मार्गपर लगा देना, तथा अंततः नंद का अर्हत् होकर निर्वाण लाभ; इस कथा के ये मूलतत्त्व हैं। जंबूचरित-कथा में किंचित् परिवर्तन-परिवर्द्धन के साथ ये सभी तत्त्व सन्निहित हैं। बुद्ध-द्वारा नंद के घर आने से लेकर नंद की दीक्षा से उसे सच्चा वैराग्य होने तक का वृत्त भवदत्त-भवदेव के वृत्तांत से पूर्णतया समान है। नंद और बुद्ध के सशरीर स्वर्गगमन से भवदत्त-भवदेव के मृत्यु के उपरांत स्वर्गगमन की तुलना की जा सकती है। शिवकुमार- सागरदत्त-भव की कथा विशेष महत्त्व की नहीं है। तथा जंबू की मोक्ष-प्राप्ति नंद के निर्वाण के समान है। अतः जंबूस्वामी की कथा में आद्योपांत सौंदरनंद की कथा को पिरो लेना संघदास जैसे जैन साहित्यकार के लिए अत्यंत स्वाभाविक प्रतीत होता है।

वीर कवि ने पाँचों भवों में प्रथम बार के भ्रातृत्व संबंध को पूर्वजाति-स्मरण द्वारा स्थायी बनाये रखा और इस प्रकार पहले जन्म के बड़े भाई भवदत्त के द्वारा बार-बार छोट भाई भवदेव के जीव को बोध प्रदान किया, व अंत में वही उसके पाँचवें जन्म में मोक्षप्राप्ति में उसका साक्षात् गुरु और मार्गदर्शक बना, एक यह तथ्य; और दूसरे भवदेव के अंतर्द्वंद्व का मार्मिक काव्यमय-चित्रण, दो बातों से ऐसा अनुमान होता है कि संभवतः स्वयं वीर कवि ने भी अश्वघोष के सौंदरनंद का गंभीरता से अध्ययन किया, जिससे वह अपने काव्य-वर्णन में इतनी सजीवता और मार्मिकता ला सका। इस संबंध में जैन कथाकारों की एक विशेषता यह है कि उन्होंने भवदेव की पत्नी के द्वारा ही प्रथम भव में उसे सच्चा बोध प्रदान कराकर भारतीय नारी के चरित्र को बहुत ऊँचा और सदा के लिए आदर्श तथा महनीय बना दिया है। नारी चरित का ऐसा परम उत्कर्ष प्रेम, विरह और अंतर्द्वंद्व के मार्मिक-रसात्मक स्थल एवं मानव-जीवन के सर्वोत्कृष्ट ध्येय की उपलब्धि, इन सब तत्त्वों ने जैन-परंपरा में जंबूस्वामी के कथानक को इतना अधिक लोकप्रिय बना दिया कि वर्त्तमान काल तक यह कथा कालसमुद्र की उत्ताल तरंगों के प्रचंड झपेटों का अतिक्रमण करती हुई, अखंड-

अविच्छिन्न रूप से निरंतर गतिशील और प्रवहमान रही। तथा 5वीं शती ई. से लगाकर 20वीं शती ई0 तक प्रत्येक शती के उत्तर भारत के गुजरात, राजस्थान, मालवा, मध्यप्रदेश एवं उत्तर प्रांत, इन सभी क्षेत्रों के विविध भाषा और शैलियों में छोटे-बड़े-मध्यम सभी आकारों में अनेक रचनाएँ जंबूस्वामी के जीवन के विविध पक्षों को लेकर प्रणीत की जाती रहीं, जिनकी संख्या लगभग एक सौ तक जा पहुँची है। इन रचनाओं का कालक्रमानुसार विवरण निम्न प्रकार है–

जंबूस्वामी विषयक रचना-सूची

1. वसुदेव-हिंडी में 'कथोत्पत्ति' नामक प्रकरण—संघदास गणि, 5वीं-6ठी शती विक्रम, आर्ष जैन महाराष्ट्री प्राकृत, सर्वप्राचीन कथानक, आगे की जंबूस्वामी विषयक समस्त रचनाओं का आधार।

2. 'रिट्ठणेमिचरिउ' के अंतर्गत—स्वयंभू देव, ई. सन् 700 के लगभग अपभ्रंश।

3. धर्मोपदेशमालाविवरण—जयसिंहसूरि, वि.सं. 915, महाराष्ट्री प्राकृत, संक्षेप में कुछ पंक्तियाँमात्र, फुटकर रूप में जंबूस्वामी चरित्र की चार कथाएँ उपलब्ध हैं।

4. उत्तरपुराण, 76वाँ पर्व—गुणभद्राचार्य, वि.सं. 955 के पूर्व, संस्कृत, 213 श्लोक।

5. 'तिसट्ठिमहापुरिसगुणालंकारु' (महापुराण) 100वीं संधि—पुष्पदंत वि.सं. 1015-1021, अपभ्रंश।

6. जंबूचरियं—मुनि गुणपाल, वि.सं. के 1076 के पूर्व, महाराष्ट्री-प्राकृत, 16 उद्देशक।

7. जंबूसामिचरिय—पं. सागरदत्त, वि.सं. 1076, अपभ्रंश, ग्रंथाग्र 2600, बृहट्टिप्पणिका की सूची, क्र. 305-307 के अनुसार।

जम्बूसामिचरियटिप्पण—गुजराती, गंथाग्र 1100, बृहट्टिप्पणिका की सूची, क्र. 305-307 के अनुसार।

8. जंबूसामिचरिउ—कवि वीर, वि.सं. 1076 अपभ्रंश, ग्यारह संधियाँ, प्रस्तुत रचना।

9. 'कहावली' के अंतर्गत—भद्रेश्वर, ई. सन् 1100 के लगभग, प्राकृत।

10. (क) 'उपदेशमाला' पर 'विशेषवृत्ति' : या 'दोधत्ती वृत्ति' के अंतर्गत—वृत्तिकार रत्नप्रभसूरि, वि.सं. 1238, संस्कृत।

(ख) कर्पूर प्रकरण टीका के अंतर्गत—(1) जिनसागरसूरिकृत, (2) प्रतिष्ठासोमकृत, संस्कृत, अति संक्षिप्त, एक पृष्ठ मात्र।

11. परिशिष्टपर्व—हेमचंद्राचार्य, वि.सं. 1217-1229 के बीच, संस्कृत, चार पर्व, गुणपाल कृत 'जंबूचरियं' के अनुसार।

12. धर्माभ्युदय महाकाव्य, अष्टमसर्ग मात्र—उदयप्रभसूरि, वि.सं. 1279-90 के बीच, संस्कृत एक सर्ग।

13. जंबूस्वामिचरित्र—महेंद्रसूरि के शिष्य धर्ममुनि, वि.सं. 1266, पुरानी गुजराती, 41 कड़ियाँ, 5 पत्र, गुजराती भाषा में अब तक प्राप्त सर्वप्रथम कृति।

14. जंबूचरित्र—कर्ता अज्ञात, वि.सं. 1299, अपभ्रंश (ग्रन्थ सूची, जैन ग्रन्थावली भाग-2)।

15. जंबूस्वामी फाग—कर्ता अज्ञात, वि.सं. 1430, पुरानी गुजराती।

16. जंबूस्वामीचरित्र-काव्य—जयशेखरसूरि, वि.सं. 1436, संस्कृत, 726 श्लोक प्रमाण, छह-प्रकरण। जयशेखर सूरि अंचल गच्छ के भट्टारक थे। यह कथानक उनकी स्वोपज्ञ उपदेश-चिंतामणिवृत्ति के अंतर्गत आया है। इसमें कथा प्रारंभ आर्यवसु-ब्राह्मण, सोमशर्मा ब्राह्मणी, भवदत्त भवदेव पुत्र, सीधे यहीं से होता है। भवदेव की दीक्षा के वृत्त में भी कुछ भेद है। पहली बार जब भवदत्त, भवदेव को दीक्षित करने की इच्छा से घर गये तो वहाँ का राग-रंग देखकर स्वयं उनका मन विचलित हो उठा और वे शीघ्र वहाँ से संघ में लौट आये। संघ में मुनियों द्वारा व्यंग्य किये जाने पर पुनः भवदेव के घर गये और उसे किसी तरह संघ में लाकर दीक्षित किया।

17. जंबूस्वामीनो विवाहलो—पींपल गच्छीय हीरानंदसूरि, वि.सं. 1495। सांचोर में वैशाख शुक्ल अष्टमी के दिन रचना पूर्ण हुई। पुरानी गुजराती।

18. जंबूस्वामीचरित—रत्नसिंह सूरि के शिष्य, वि.सं. 1516, रचयिता ने अपना नाम न देकर केवल अपने गुरु का नामोल्लेख किया है।

19. जंबूस्वामी चरित्र—ब्रह्म जिनदास, वि.सं. 1520, संस्कृत 11 संधियाँ, पूर्णरूप से वीर कृत अपभ्रंश 'जंबूसामिचरिउ' का संस्कृत रूपांतर।

20. जंबूकुँवर रास—ब्रह्म जिनदास, वि.सं. 1520, पुरानी जयपुरी हिन्दी, 11 संधियाँ।

21. जंबूस्वामि चौपाई—जिनभद्र सूरि, वि.सं. 1522 आश्विन पूर्णिमा के दिन नंदेस में लिखित, पुरानी जयपुरी हिन्दी (पद्यात्मक), पत्र 11, अरहन्नगादि प्राचीन जैन मुनियों के नामोल्लेखों की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण।

22. जंबूस्वामिपंचभव-वर्णन चौपाई—देपाल भोजक, वि.सं. 1522, लगभग 179 गाथा प्रमाण।

23. प्रभव-जंबूस्वामि वेलि—वि.सं. 1548 आसोज बदी आठम, पुरानी राजस्थानी हिन्दी, पत्र 5; कुल 23 सुंदर गेय पद्य, प्रभव-जंबू वार्तालाप से प्रारंभ।

24. जंबूस्वामिचरित्र—सकलचंद्र (वि.सं. 1520) के शिष्य भुवनकीर्त्ति, वि. 16वीं शती, प्राकृत। ये भुवनकीर्ति संभवतः दिगम्बर परम्परा के थे।

25. जंबू अंतरंग रास अथवा जंबूकुमार विवाहलो—सहजसुंदर, वि. 16वीं शती, राधनपुर नगर में लिखित, पुरानी गुज. मिश्रित हिंदी, पत्र 4, 5 ढालें, 64 सुन्दर गेय पद्य, अंत में एक दोहा। यह लघुकृति सुंदर काव्य की रीति से प्रतीकात्मक शैली में रची गयी है और लौकिक वधुओं को त्यागकर इसमें जंबूस्वामी का मोक्ष रूपी वधू से परिणय वर्णित है।

26. जंबूस्वामी गीता—वि.सं. 1593, गुज. पत्र-5, (जैनग्रन्था. भाग 2)।

27. जंबूस्वामी रास (पंचभव चरित्र)—विजयगच्छीय मल्लिदास, वि.सं. 1619, गुज.

मिश्रित हिंदी, 27 श्लोक प्रमाण, लगभग 955 कड़ियों में रचित।

28. जंबूकुमार रास—पीपलगच्छीय विमलप्रभ सूरि के शिष्य राजपाल, वि.सं. 1622, गुज. मिश्रित हिन्दी, 27 श्लोक प्रमाण, लगभग 955 कड़ियों में रचित।

29. जंबूचरित—उपाध्याय पद्मसुंदर नागौरी, वि.सं. 1626-39 के बीच, प्राकृत। इनके गुरु तपागच्छीय पद्ममेरु थे और दादा गुरु आनंदमेरु थे, जो अकबर के एक सभासद् थे। ये कवि चक्रवर्ती के नाम से भी प्रसिद्ध थे

30. जंबूस्वामिचरित्रम्—पं. राजमल्ल, वि.सं. 1632 आगरे में रचित, संस्कृत, 13 पर्व, वीरकृत अपभ्रंश जं.सा.च. के आधार से, लगभग उसी का संस्कृत रूपांतर (प्रकाशित)।

31. जंबूस्वामिचरित्र—पांडे जिनदास, वि.सं. 1642, मूल संस्कृत का भाषा। (हिन्दी) रूपांतर कर्त्ता पांडे जिनदास; छंदोबद्ध कर्त्ता लमेचू नाथूराम; शुद्ध हिन्दी गद्यानुवाद सूरत से प्रकाशित।

32. जंबूरास—खरतरगच्छीय गुणविनय, वि.सं. 1670, बाहडमेर ग्राम में रचित, पुरानी राजस्थानी।

33. जंबूस्वामि चरित्र—भावशेखर शाह, वि.सं. 1684, पाटन नगर नामक ग्राम में रचित, राजस्थानी, गुज. मिश्रित, ग्रन्थाग्र 2100, गाथाएँ 1100, पत्र 1 से 6 नहीं, 7 से 36 हैं। इसके रचयिता भावशेषर अंचलगच्छ, श्रीमालिवंश, चंद्रकुल और प्रसिद्ध पालीताणीया शाखा के थे। इनकी गुरु-परम्परा इस प्रकार थी; भवनतुरंगसूरि-वाचक कमलशेषर-सत्यशेषर-विवेकशेषर-गणिविजयशेषर-भावशेषर शाह।

34. जंबू चौपाई—तपागच्छीय कमलविजय, वि.सं. 1692 सिवाणा ग्राम में रचित, राज. गुज. मिश्रित।

35. जंबुकुमार चौपाई अथवा जंबूस्वामी रास—खरतरगच्छीय ज्ञाननंदि वाचक के शिष्य-पाठक भुवनकीर्ति गणि द्वितीय, वि.सं. 1705, श्रावक सुदी 1, बुहनिपुर नगर में रचित, राज. गुज. मिश्रित, पत्र 36; 4 अधिकार; दोहा, ढाल सब मिलाकर 1353 सुंदर गेय पद्यों में रचित, परिशिष्ट पर्व (हेमचंद्र) के आधार से।

36. जंबूस्वामी रास—खरतरगच्छीय पद्मचंद्र, वि.सं. 1714, सरिसा पाटन में रचित, राज.-गुज. मिश्रित, लगभग 1511 गाथा प्रमाण, परि. पर्व के आधार से।

37. जंबू चौपाई—खरतरगच्छीय जिनसागर सूरि के शिष्य : कवि उदयरत्न, वि.सं. 1720, राज.-गुज. मिश्रित।

38. जंबूपृच्छा रास अथवा कर्मविपाक रास—वीरजी मुनि, वि.सं. 1728, पाटन नगर में रचित, राज.-गुज. मिश्रित, 13 ढालें। इसमें जंबूस्वामी के प्रश्न हैं, जिनका उत्तर सुधर्मा द्वारा दिया गया है।

39. जंबूरास—धर्ममन्दिर, वि.सं. 1729, मुलतान नगर में रचित, राज.-गुज. मिश्रित, धर्ममंदिर व सुमतिरंग दोनों की ये रचनाएँ एक ही वर्ष में एक ही स्थान में रहकर लिखी

गयीं। अतः तुलनात्मक दृष्टि से ये अवश्य अध्ययनीय हैं।

40. जंबूस्वामी चौपाई—खरतरगच्छीय सुमतिरंग, वि.सं. 1729, मुलतान नगर में रचित राज.-गुज. मिश्रित।

41. जंबूस्वामी रास—तपागच्छीय चंद्रविजय, वि.सं. 1734, ग्राम कोरडादे में रचित, राज.-गुज. मिश्रित, 852 गाथा प्रमाण।

42. जंबूस्वामी रास—तपागच्छीय कविराज धीरविमल के शिष्य नयविमल, वि.सं. 1738, मार्गशीर्ष शुक्ल 13 सोमवार, ग्राम थिरपुर नगर में रचित, राज.-गुज. मिश्रित, 35 ढालें (पत्र 35) प्रकाशित।

43. श्रीजंबूस्वामी ब्रह्मगीता—उपाध्याय यशोविजयजी, वि.सं. 1738 (खंभात में रचित), गुजराती, पत्र 2, लघु कृति मदनपराजय (अपभ्रंश) की प्रतीकात्मक शैली में रचित, गु.सा.सं. भाग 1 में प्रकाशित।

44. जंबूस्वामी रास—उपाध्याय यशोविजयजी, वि.सं. 1739, खंभात में रचित गुजराती, 5 अधिकार, 37 ढालें, मदनपराजय (अपभ्रंश) की प्रतीकात्मक शैली में रचित, गु.सा.सं. भाग 2 में प्रकाशित।

45. जंबूस्वामी रास—तपागच्छीय उदयरत्न, वि.सं. 1749, ग्राम खेडा हरियाणा में रचित, गुजराती, 66 ढालें, लगभग 2500 गाथाएँ।

46. जंबूस्वामी रास—खरतरगच्छीय यशोवर्धन, वि.सं. 1751।

47. जंबूस्वामी रास—खरतरगच्छीय जिनहर्ष, वि.सं. 1760, 4 अधिकार, 80 ढालें, लगभग 1657 गाथा प्रमाण।

48. जंबूकुमार रास—कडवागच्छीय लाधाशाह, वि.सं. 1764, ग्राम सोही में रचित, 32 ढालें।

49. जंबूस्वामी स्तवन—भाग्यविजय, वि.सं. 1766, 14 श्लोकप्रमाण।

50. जंबूसामिचरित्तं—(पूर्व) मुनि जिनविजय, वि.सं. 1785-1809 के बीच, प्राकृत, प्रकाशित।

51. जंबूस्वामी चौढालिया—खरतरगच्छीय विनयनंद के शिष्य श्री दुर्गादास, वि.सं. 1793।

52. जंबूकुमार रास—नयविजय विबुध के शिष्य, वाचक जयविजय, वि.सं. 1799, खंभनगर में रचित, राजस्थानी, पत्र 44।

53. जंबूचरित—श्री चेतनविजय, वि.सं. 1805, अजीमगंज में रचित, राजस्थानी।

54. जंबूस्वामी चरित्र—विजयकीर्त्ति, वि.सं. 1827, हिन्दी पद्य, पत्र 20, जयपुर शास्त्र भंडार में उपलब्ध।

55. जंबू चौपाई—श्री चंद्रभाण, वि.सं. 1838, ग्राम बोडावड में रचित, राजस्थानी, 35 ढालें।

56. जंबूकुमार चरित—श्वेताम्बर तेरापंथ के संस्थापक आचार्य भीषणजी; लगभग वि.सं. 1850, राज., 46 ढालें, गाथाओं के ऊपर 215 दोहे, 788 गाथाएँ, परि. पर्व के आधार से, भि. ग्र. रत्ना. द्वि. खंड, प्रका. श्वे. तेरा. महा. कलकत्ता।

57. जंबूस्वामि चरित्र—श्रीचेतनविजय, वि.सं. 1852-53 हिंदी, पत्र 30।

58. जंबूकुमार चौढालिया—श्री सौभाग्यसार, वि.सं. 1873, पाटन में रचित।

59. जंबूस्वामी श्लोक—श्री लब्धिविजय, वि. 19वीं शती।

60. जंबूस्वामी कथा—विजयशंकर-विद्याराम वि.सं. 1914, द्वि. ज्येष्ठमास कृष्णपक्ष सोमवार, श्रीनगर में रचित, गुज. परक हिंदी, पत्र, 20; छंदरहित गद्यात्मक पद्यशैली, जंबूस्वामीचरित की 23 अंतःकथाओं से युक्त।

61. जंबूस्वामी गुणरत्नमाला—ओसवाल श्रावक जेठमल चोरडिया, वि.सं. 1920, आषाढ़ कृष्ण-5, (जयपुर) पुरानी राजस्थानी, पत्र-30, प्रकाशित।

62. जंबूस्वामी चौपाई—कर्ता अज्ञात, रचनाकाल अज्ञात, राजस्थानी, पत्र-4 पहले पाँच पृष्ठों में राजुल कथा; अंत में एक पृष्ठ अति संक्षेप में जंबूस्वामी के जन्म से लेकर मोक्षगमन पर्यंत की कथा।

63. जंबूस्वामी चरित—रचयिता व रचनाकाल अज्ञात, संस्कृत गद्य, पत्र-3, सरल शैली, छोटे-छोटे वाक्य, संक्षिप्त कथा।

64. जंबूस्वामी चौपाई—रचयिता व रचनाकाल अज्ञात, पुरानी राजस्थानी, पत्र-2, पृ. 3, अपूर्ण, भवदेव के जन्म से कथा प्रारंभ, विविध जन्मों की रूपरेखा प्रस्तुत करके जंबूस्वामी जन्म व प्रभव के साथ वार्तालाप में महेश्वरदत्त के आख्यान पर आकर कथा अपूर्ण समाप्त।

65. जंबूकुमार रास—श्रीबालुचंदगणी के शिष्य लोंकागच्छ के नायक मुनि भूधर, संवत् भारवनस्पति भाषुदाषुः मुनिवर वर्ष (?) आश्विन मास विजयादशमी, पुरानी राजस्थानी, पत्र-14।

66. जंबूचरित अथवा जंबूस्वामी अज्झयण—(संभवतः) पद्मसुंदरगणि, रचनाकाल अज्ञात अर्द्धमागधी अपभ्रंश, 36 पत्रों से लगाकर 60 पत्रों तक में लिखित अनेक प्रतियाँ उपलब्ध। 19 उद्देसक, यह बहुत महत्त्वपूर्ण रचना है, इसके जंबूअज्झयण, जंबूपयण्णा, जंबूस्वामि कथानक, जंबूचरित्र एवं जंबूस्वामि अज्झयण ये अनेक नाम प्रचलित हैं। इस पर अनेक बालावबोधों व टिप्पणों की रचना हुई है।

(क) जंबूचरित्र बालावबोध—वि.सं. 1790, पुरानी गुजराती।

(ख) जंबूचरित्र बालावबोध—श्री सुंदरगणि, वि.सं. 1795 से पूर्व, पुरानी गुजराती।

(ग) जंबूचरित्र बालावबोध—वि.सं. 1808, पुरानी गुजराती।

(घ) जंबूचरित्र बालावबोध—वि.सं. 1812, पुरानी गुजराती।

(ङ) जंबू अध्ययन चरित्र बालावबोध—वि.सं. 1816 से पूर्व, पुरानी गुजराती।

(च) जंबूस्वामीकथानक—वि.सं. 1829, पुरानी गुजराती।

67. जंबूस्वामीकुलक—प्राकृत, प्रकीर्ण ग्रन्थसंग्रह। (जैन ग्रंथा. 2)।

68. जंबूचरित्र—अज्ञात, (जैन ग्रंथा. 2)।

69. जंबूचरित्र—(संभवत:) संघभद्र, अपभ्रंश, केवल 20 गाथाएँ, (जैन ग्रन्था. 2)।

70. जंबूचरित्र—प्रद्युम्नसूरि; दादागुरु प्रद्युम्न, गुरु वीरभद्र, प्रारंभ : पढमभवे भवदेवो गहियवओ पढम-सुरपवरो। रायसुयसिवकुमारो कय-बारसवास-तव-सारो।। 1।। अंत: बारस नवाणुए भद्दव सिय पडिव गुरि समुद्धरियं। धन्नासी भाषाए भणियव्वं संघभद्दकए।। 20।।

71. जंबूचरित्र—गुजराती, पत्र 44, 725 श्लोक प्रमाण, (जैन ग्रन्था. 2)।

72. जंबूस्वामीश्लोको—लब्धिविजय, पत्र 3, 45 श्लोक प्रमाण (जैन ग्रन्था. 2)।

73. जंबूचरी—गुजराती, पत्र 14, (जैन ग्रन्था. 2)।

74. जंबूस्वामी कथा—नयविमल, गुजराती, पत्र 9, (जैन ग्रंथा. 2)।

75. जंबूस्वामिचतुष्पदी—गुजराती, 275 श्लोक प्रमाण. (जैन ग्रंथा. 2)।

76. जंबूस्वामीस्वाध्याय—गुजराती, पत्र 1, 11 श्लोक प्रमाण, (जैन ग्रंथा. 2)।

77. जंबूस्वामीस्वाध्याय—गुजराती, पत्र 1, 16 श्लोक प्रमाण, (जैन ग्रंथा. 2)।

78. जंबूकुमार स्वाध्याय—गुजराती, पत्र 1, (जैन ग्रंथा. 2)।

79. जंबूनाटक—(मुद्रित जैन ग्रंथावलि)।

80. जंबूस्वामिचरित्र—रत्नशेखर, (मुद्रित जैन-ग्रंथावलि)।

81. जंबूचरित्र—गुजराती, (मुद्रित जैन ग्रंथावलि)।

82. जंबूचरित्र—मूल संस्कृत (?) गुजराती भाषांतर, वि.सं. 1950।

83. जंबूस्वामिचरित्र—गुजराती, (मुद्रित जैन ग्रंथावलि)।

84. जंबूस्वामिचरित्र—(मुद्रित जैन ग्रंथावलि)।

85. जंबूस्वामीचरित्र—1644 गाथा प्रमाण, (जैन ग्रंथा. 2)।

86. जंबूस्वामीचरित्र—पद्मसुंदर, प्राकृत, 750 गाथा प्रमाण, (जैन ग्रंथा. 2)।

87. जंबूस्वामीचरित्र—संस्कृत, पत्र 14, (जैन ग्रंथा. 2)।

88. जंबूस्वामीचरित्र—संस्कृत गद्य, 897 गाथा प्रमाण, (जैन ग्रंथा. 2)।

89. जंबूस्वामीचरित्र—सकलहर्ष, पत्र 11, (जैन ग्रंथा. 2)।

90. जंबूस्वामीचरित्र—मानसिंह, संस्कृत पद्य, ग्रंथाग्र 1300, (जैन ग्रंथा. 2)।

91. जंबूस्वामीचरित्र—पत्र 50, (जैन ग्रंथा. 2)।

92. जंबूस्वामीकथा—प्राकृत, (जैन ग्रंथा. 2)।

93. जंबूस्वामीचरित्र—नमिदत्त, (जि. र. कोश)।

94. जंबूस्वामीचरित्र—विद्याभूषण, (जि. र. कोश)।

95. जंबूस्वामीचरित्र—पं. दीपचंद्रवर्णी, सन् 1939 (मथुरा), हिन्दी, प्रकाशित। ❖❖

जिनभक्त राजा भोज

✍ आचार्य विद्यानन्द मुनि

भारत के इतिहास में अनेक प्रसिद्ध राजाओं ने जिनभक्ति और वाग्देवी के प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट की है। मध्ययुग के विद्याप्रेमी और काव्यरसिक शासक राजा भोज भी जिनभक्त थे। 'भूपालस्तोत्र' में उन्होंने कहा है कि— जो व्यक्ति श्री तीर्थंकर जिनेन्द्र के चरणयुगल की प्रतिदिन प्रातःकाल स्तुति करता है, जिनदर्शन करता है, उसे मोक्ष-लक्ष्मी की प्राप्ति होती है। वह इस पृथ्वी का राजा होता है और उसे प्रत्येक कार्य में विजय प्राप्त होती है। उसकी सब जगह कीर्ति फैल जाती है, वह सदा आनन्द में मग्न रहता है, उसे वाग्देवी-प्रणीत सभी विद्याएँ प्राप्त होती हैं तथा अन्त में उस धर्मात्मा के भी पंचकल्याणक आदि महोत्सव होते हैं। यथा—

श्रीलीलायतनं महीकुलगृहं कीर्तिप्रमोदास्पदम्।
वाग्देवीरतिकेतनं जयरमाक्रीडानिधानं महत्।।
स स्यात्सर्वमहोत्सवैकभवनं यः प्रार्थितार्थप्रदम्।
प्रातः पश्यति कल्पपादपदलच्छायं जिनांघ्रिद्वयम्।।[1]

कविवर भूधरदास ने 'भूपाल चतुर्विंशतिका' में भी जिनदेव के दर्शन का महात्म्य प्रकट करते हुए इसी भावना को व्यक्त किया है कि जिनदर्शन में लक्ष्मी-सुख का वास, सरस्वती का निवास और विजय की आधारभूमि है। यथा—

श्री सुख-वास-महीकुल धाम, कीरति-हर्षण-थल अभिराम।
सरसुति के रतिमहल महान, जय-जुवती को खेलन थान।।
अरुण वरण वांछित वरदाय, जगतपूज्य ऐसे जिन पाय।
दर्शन प्राप्त करै जो कोय, सब शिवनाथ सो जन होय।।[2]

भावपाहुड़ की संस्कृत टीका में उक्तं च श्री भोजराज महाराजेन उल्लेख मिलता है।[3] श्री श्रुतसागरसूरि ने भोजराज महाराज के भूपाल 'चतुर्विंशति जिनस्तवनम्' के एक श्लोक को उद्धृत करते हुए 'जिनदर्शन' के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए कहा है—

सुप्तोत्थितेन सुमुखेन सुमंगलाय, द्रष्टव्यमस्ति यदि मंगलमेव वस्तु।
अन्येन किं तदिह नाथ! तवैव वक्त्रम्, त्रैलोक्यमंगलनिकेतनमीक्षणीयम्।।[4]

सुप्तोत्थितेन—प्रातः सोकर उठे हुए सत्पुरुष श्रावक और श्राविका को यदि सुमंगल के कोई मांगलिक वस्तु दर्शन करने योग्य है तो हे वृषभनाथ ! और दूसरी वस्तु की क्या आवश्यकता है? उसे तीन लोक के मंगलों का घर स्वरूप आपके श्रीमुख का ही दर्शन (पूजन) करना चाहिए। यथा—

सोकर जागै जो धीमान, पंडित सुधी सुमुख गुणगान।
आपन मंगलहेत प्रशस्त, अवलोकन चाहै कछु वस्त।।
और वस्तु देखै किस काज, जो तुम मुख राजै जिनराज।
तीन लोक को मंगलथान, प्रेक्षणीय तिहुँ जग कल्याण।।[5]

जिनदर्शन और सरस्वती आराधना के इस घनिष्ठ सम्बन्ध की साक्षी है— धारा नगरी से प्राप्त वाग्देवी की मनोज्ञ प्रतिमा इस सरस्वती प्रतिमा का विश्लेषण **'अर्हत् वचन' शोध-पत्रिका, इन्दौर में प्रकाशित हुआ है।**[6] इस सरस्वती प्रतिमा में जिनेन्द्रबिम्ब, विद्याधर, ज्ञानांकुश, आगमताड़पत्र, अक्षमाला, कमण्डलु, भक्त भोजराजा एवं श्रीफल लिए हुए महाकुमार अंकित है। आचार्य सोमदेवसूरि ने सरस्वती और श्रमणमुनि के हाथ में सुशोभित कमण्डलु को अर्थशास्त्र का निदर्शन करने वाला कहा है; क्योंकि इसमें जल आने का द्वार बड़ा और खर्च करने का छिद्र छोटा होता है। आय अधिक और व्यय थोड़ा यही सुखी जीवन का रहस्य है— **आय-व्ययमुखयोर्मुनिकमण्डलुरेव निदर्शनम्।**[7]

जिनमुख दर्शन और सरस्वती-आराधना के भक्त राजा भोज ने सदैव विद्वत्ता का सम्मान किया है। उनकी घोषणा थी कि—

चाण्डालोऽपि भवेद् विद्वान्, यः स तिष्ठतु मे पुरि।
विप्रोऽपि यो भवेन्मूर्खः, स पुराद् बहिरस्तु मे।।[8]

चाण्डाल भी यदि विद्वान् हो तो वह मेरे धारा नगर में प्रतिष्ठित हो और यदि ब्राह्मण होते हुए भी वह मूर्ख हो तो मेरे धारा नगर से वह बाहर हो जाये।

सन्दर्भ :–

1. भूपाल स्तोत्र (जिनचतुर्विंशतिका), 1 (द्र. आत्मकल्याणप्रकाश, संपादक– डॉ. ऋषभचंद्र फौजदार, प्रकाशक– दिगम्बर जैन समाज, कोलकाता, 2005)
2. भूपाल चतुर्विंशतिका, कविवर भूधरदास, 1 (पूजन-पाठ-प्रदीप, संपादक– पं. हीरालाल जैन 'कौशल', पृष्ठ 416)
3. भावपाहुड, आचार्य कुन्दकुन्द, संस्कृत टीका, गाथा 151
4. भूपालस्तोत्र जिनचतुर्विंशतिका, 19
5. भूपाल चतुर्विंशतिका, कविवर भूधरदास, 19
6. सूरजमल बोबरा, समस्तावलोका निरस्ता निदानी, नमो देवि वागीश्वरी जैन वानी, अर्हत् वचन, 15(3) जुलाई-सितम्बर 03, 7-16
7. नीतिवाक्यामृत, सोमदेवसूरि, 8-6
8. भोज प्रबन्ध, बल्लभदेव कृत, 74

❖❖

तीर्थ

✍ पं. बलभद्र जैन

तीर्थ मान्यता :— प्रत्येक धर्म और सम्प्रदाय में तीर्थों का प्रचलन है। हर सम्प्रदाय के अपने तीर्थ हैं, जो उनके किसी महापुरुष एवं उनकी किसी महत्त्वपूर्ण घटना के स्मारक होते हैं। प्रत्येक धर्म के अनुयायी अपने तीर्थों की यात्रा और वन्दना के लिए बड़े भक्ति भाव से जाते हैं। और आत्म-शान्ति प्राप्त करते हैं। तीर्थ-स्थान पवित्रता, शान्ति और कल्याण के धाम माने जाते हैं। जैन धर्म में भी तीर्थ-क्षेत्र का विशेष महत्त्व रहा है। जैन धर्म के अनुयायी प्रति वर्ष बड़े श्रद्धा-भावपूर्वक अपने तीर्थों की यात्रा करते हैं। उनका विश्वास है कि तीर्थ-यात्रा से पुण्य-संचय होता है और परम्परा से यह मुक्ति-लाभ का कारण होती है। अपने इसी विश्वास के कारण वृद्ध जन और महिलाएँ भी सम्मेद शिखर, राजगृही, माँगीतुंगी, गिरनार– जैसे दुरूह पर्वतीय क्षेत्रों पर भी भगवान् का नाम स्मरण करते हुए चढ़ जाते हैं। बिना आस्था और निष्ठा के क्या कोई वृद्धजन ऐसे पर्वतपर आरोहण कर सकता है?

तीर्थ की परिभाषा :— तीर्थ शब्द तृ धातु से निष्पन्न हुआ है। व्याकरण की दृष्टि से इस शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है– 'तीर्यन्ते अनेन अस्मिन् वा।' 'तृ प्लवनतरणयोः' (भ्वा. प. से.) । 'पातृतुदि' –(उ. 2/7) इति थक्। अर्थात् तृ धातु के साथ थक् प्रत्यय लगाकर तीर्थ शब्द की निष्पत्ति होती है। इसका अर्थ है– जिसके द्वारा अथवा जिसके आधार से तरा जाये। कोष के अनुसार तीर्थ शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है। यथा–

निपानागमयोस्तीर्थमृषिजुष्टजले गुरौ। –अमरकोष, तृ. काण्ड, श्लोक 86

तीर्थं शास्त्राध्वरक्षेत्रोपायनारीरजःसु च।
अवतारर्षिजुष्टाम्बुपात्रोपाध्यायमन्त्रिषु।। –मेदिनी

इस प्रकार कोषकारों के मतानुसार तीर्थ शब्द जलावतरण, आगम, ऋषि जुष्ट जल, गुरु, क्षेत्र, उपाय, स्त्री-रज, अवतार, पात्र, उपाध्याय और मन्त्री इस विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त होता है।

जैन शास्त्रों में भी तीर्थ शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में किया गया है। यथा–

संसाराब्धेरपारस्य तरणे तीर्थमिष्यते।
चेष्टितं जिननाथानां तस्योक्तिस्तीर्थसंकथा।। –आदिपुराण 4/8

जो इस अपार संसार-समुद्र से पार करे, उसे तीर्थ कहते हैं। ऐसा तीर्थ जिनेन्द्र भगवान् का चरित्र ही हो सकता है। अतः उसके कथन करने को तीर्थाख्यान कहते हैं। यहाँ जिनेन्द्र भगवान् के चरित्र को तीर्थ कहा जाता है।

आचार्य समन्तभद्र ने भगवान् जिनेन्द्रदेव के शासन को सर्वोदय तीर्थ बताया है—

सर्वान्तवत्तद्गुणमुख्यकल्पं सर्वान्तशून्यं च मिथोऽनपेक्षम्।

सर्वापदामन्तकरं निरन्तं सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव।। —युक्त्यनुशासन 62

आपका यह तीर्थ सर्वोदय (सबका कल्याण करनेवाला) है, जिसमें सामान्य-विशेष, द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक, अस्ति-नास्ति रूप सभी धर्म गौण-मुख्य रूप से रहते हैं, ये सभी धर्म परस्पर सापेक्ष हैं, अन्यथा द्रव्य में कोई धर्म या गुण रह नहीं पाएगा। तथा यह सभी की आपत्तियों को दूर करनेवाला है और किसी मिथ्या वाद से इसका खण्डन नहीं हो सकता। अतः आपका यह तीर्थ सर्वोदय-तीर्थ कहलाता है। यह तीर्थ परमागम रूप है, जिसे धर्म भी कहा जा सकता है। बृहत्स्वयंभू स्तोत्र में भगवान् मल्लिनाथ की स्तुति करते हुए आचार्य समन्तभद्र ने उनके तीर्थ को जन्म-मरण रूप समुद्र में डूबते हुए प्राणियों के लिए प्रमुख तरण-पथ (पार होने का उपाय) बताया है—

तीर्थमपि स्वं जननसमुद्रत्रासितसत्त्वोत्तरणपथोऽगम्।

पुष्पदन्त-भूतबलि प्रणीत षट्खण्डागम (भाग 8, पृ. 91) में तीर्थंकर को धर्म-तीर्थ का कर्ता बताया है। आदिपुराण में श्रेयान्सकुमार को दान-तीर्थ का कर्ता बताया है। आदिपुराण में (2/39) मोक्षप्राप्ति के उपायभूत सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र को तीर्थ बताया है।

आवश्यक निर्युक्ति में चातुर्वर्ण अर्थात् मुनि-आर्यिका श्रावक-श्राविका इस चतुर्विध संघ अथवा चतुर्वर्ण को तीर्थ माना है। इनमें भी गणधरों और उनमें भी मुख्य गणधर को मुख्य तीर्थ माना है और मुख्य गणधर ही तीर्थंकरों के सूत्र रूप उपदेश को विस्तार देकर भव्यजनों को समझाते हैं, जिससे वे अपना कल्याण करते हैं। कल्पसूत्र में इसका समर्थन किया गया है।

तीर्थ और क्षेत्र-मंगल :— कुछ प्राचीन जैनाचार्यों ने तीर्थ के स्थान पर 'क्षेत्र-मंगल' शब्द का प्रयोग किया है। षट्खण्डागम (प्रथम खण्ड, पृ.28) में क्षेत्र-मंगल के सम्बन्ध में इस प्रकार विवरण दिया गया है।

तत्र क्षेत्रमंगलं गुणपरिणतासन-परिनिष्क्रमण-केवलज्ञानोत्पत्तिपरिनिर्वाणक्षेत्रादिः। तस्योदाहरणम्-ऊर्जयन्त-चम्पा-पावानगरादिः। अर्धाष्टारत्न्यादि-पञ्चविंशत्युत्तरपञ्च-धनुःशतप्रमाणशरीरस्थितकैवल्याद्यवष्टब्धाकाशदेशा वा, लोकमात्रात्म-प्रदेशैर्लो-कपूरणा-पूरितविश्वलोकप्रदेशा वा।

गुण-परिणत-आसन क्षेत्र अर्थात् जहाँ पर योगासन, वीरासन इत्यादि अनेक आसनों से तदनुकूल अनेक प्रकार के योगाभ्यास, जितेन्द्रियता आदि गुण प्राप्त किये

गये हों, ऐसा क्षेत्र, परिनिष्क्रमण क्षेत्र, केवलज्ञानोत्पत्ति क्षेत्र और निर्वाण क्षेत्र आदि को क्षेत्र-मंगल कहते हैं। इसके उदाहरण ऊर्जयन्त (गिरनार), चम्पा, पावा आदि नगर क्षेत्र हैं। अथवा साढ़े तीन हाथ से लेकर पाँच सौ पचीस धनुष तक के शरीर में स्थित और केवलज्ञानादि से व्याप्त आकाश प्रदेशों को क्षेत्र-मंगल कहते हैं। अथवा लोक प्रमाण आत्म-प्रदेशों से लोकपूरणसमुद्घात दशा में व्याप्त किये गये समस्त लोक के प्रदेशों को क्षेत्र-मंगल कहते हैं।

बिलकुल इसी आशय की 4 गाथाएँ आचार्य यतिवृषभ ने तिलोयपण्णत्ति नामक ग्रन्थ में (प्रथम अधिकार गाथा 21-24) निबद्ध की हैं और उन्होंने कल्याणक क्षेत्रों को क्षेत्र-मंगल की संज्ञा दी है। गोम्मटसार में बताया है— **क्षेत्रमंगलमूर्जयन्तादिकमर्हदादीनाम्।**

तीर्थ शब्द के आशय में ही क्षेत्र-मंगल शब्द का प्रयोग मिलता है। यदि अन्तर है तो इतना कि तीर्थ शब्द व्यापक है। तीर्थ शब्द से उन सबका व्यवहार होता है, जो पार करने में साधन हैं। इन साधनों में एक साधन तीर्थ-भूमियाँ भी हैं। इन तीर्थ-भूमियों को ही क्षेत्र-मंगल शब्द से व्यवहृत किया गया है। अतः यह कहा जा सकता है कि तीर्थ शब्द का आशय व्यापक और क्षेत्र-मंगल शब्द का अर्थ व्याप्य है। तीर्थ शब्द के साथ यदि भूमि या क्षेत्र शब्द और जोड़ दिया जाये तो उससे वही अर्थ निकलेगा जो क्षेत्र-मंगल शब्द से अभिप्रेत है।

तीर्थों की संरचना का कारण :— तीर्थ शब्द क्षेत्र या क्षेत्र-मंगल के अर्थ में बहुप्रचलित एवं रूढ़ है। तीर्थ-क्षेत्र न कहकर केवल तीर्थ शब्द कहा जाये तो उससे भी प्रायः तीर्थ-क्षेत्र या तीर्थ-स्थान का आशय लिया जाता है। जिन स्थानों पर तीर्थंकरों के गर्भ, जन्म, अभिनिष्क्रमण, केवलज्ञान या निर्वाण प्राप्त हुआ हो, वह स्थान उन वीतराग महर्षियों के संसर्ग से पवित्र हो जाता है। इसलिए वह पूज्य भी बन जाता है। वादीभसिंह सूरि ने इस बात को बड़े ही बुद्धिगम्य तरीके से बताया है। वे कहते हैं–

पावनानि हि जायन्ते स्थानान्यपि सदाश्रयात्।।
सद्भिरध्युषिता धात्री संपूज्येति किमद्भुतम्।।
कालायसं हि कल्याणं कल्पते रसयोगतः।। —क्षत्रचूड़ामणि (6/4-5)

महापुरुषों के संसर्ग से स्थान भी पवित्र हो जाते हैं। फिर जहाँ महापुरुष रह रहे हों, वह भूमि पूज्य होगी ही, इसमें आश्चर्य की क्या बात है। जैसे रस अथवा पारस के स्पर्श मात्र से लोहा सोना बन जाता है।

मूलतः पृथ्वी पूज्य या अपूज्य नहीं होती। उसमें पूज्यता महापुरुषों के संसर्ग के कारण आती है। पूज्य तो वस्तुतः महापुरुषों के गुण होते हैं किन्तु वे गुण (आत्मा) जिस शरीर में रहते हैं, वह शरीर भी पूज्य बन जाता है। संसार उस शरीर की पूजा करके ही गुणों की पूजा करता है। महापुरुष के शरीर की पूजा भक्त का शरीर करता है और महापुरुष के आत्मा में रहनेवाले गुणों की पूजा भक्त की आत्मा अथवा उसका

अन्तःकरण करता है। इसी प्रकार महापुरुष, वीतराग तीर्थंकर अथवा मुनिराज जिस भूमिखण्ड पर रहे, वह भूमिखण्ड भी पूज्य बन गया। वस्तुतः पूज्य तो वे वीतराग तीर्थंकर या मुनिराज हैं। किन्तु वे वीतराग जिस भूमिखण्ड पर रहे, उस भूमिखण्ड की भी पूजा होने लगती है। उस भूमिखण्ड की पूजा भक्त का शरीर करता है, उस महापुरुष की कथा-वार्ता, स्तुति-स्तोत्र और गुण-संकीर्तन भक्त की वाणी करती है और उन गुणों का अनुचिन्तन भक्त की आत्मा करती है। क्योंकि गुण आत्मा में रहते हैं, उनका ध्यान, अनुचिन्तन और अनुभव आत्मा में ही किया जा सकता है।

वीतराग तीर्थंकरों और महर्षियों ने संयम, समाधि, तपस्या और ध्यान के द्वारा जन्म-जरा-मरण से मुक्त होने की साधना की और संसार के प्राणियों को संसार के दुखों से मुक्त होने का उपाय बताया। जिस मिथ्या मार्ग पर चलकर प्राणी अनादि काल से नाना प्रकार के भौतिक और आत्मिक दुःख उठा रहे हैं, उस मिथ्या मार्ग को ही इन दुखों का एक मात्र कारण बताकर प्राणियों को सम्यक् मार्ग बताया। अतः वे महापुरुष संसार के प्राणियों के अकारण बन्धु हैं, उपकारक हैं। इसीलिए उन्हें मोक्षमार्ग का नेता माना जाता है। उनके उपकारों के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने और उस भूमि-खण्डपर घटित घटना की सतत स्मृति बनाये रखने और इस सबके माध्यम से उन वीतराग देवों और गुरुओं के गुणों का अनुभव करने के लिए उस भूमि पर उन महापुरुष का कोई स्मारक बना देते हैं। संसार की सम्पूर्ण तीर्थभूमियों या तीर्थ-क्षेत्रों की संरचना में भक्तों की महापुरुषों के प्रति यह कृतज्ञता की भावना ही मूल कारण है।

तीर्थों के भेद :— दिगम्बर जैन परम्परा में संस्कृत निर्वाण-भक्ति और प्राकृत निर्वाण-काण्ड प्रचलित हैं। अनुश्रुति के अनुसार ऐसा मानते हैं कि प्राकृत निर्वाण-काण्ड (भक्ति) आचार्य कुन्दकुन्द की रचना है। तथा संस्कृत निर्वाण-भक्ति आचार्य पूज्यपाद द्वारा रचित कही जाती है। इस अनुश्रुति का आधार सम्भवतः क्रियाकलाप के टीकाकार प्रभाचन्द्राचार्य हैं। उन्होंने लिखा है कि संस्कृत भक्तिपाठ पूज्यपाद स्वामी विरचित है। प्राकृत निर्वाण भक्ति के दो खण्ड हैं—एक निर्वाण-काण्ड और दूसरा निर्वाणेतर-काण्ड है। निर्वाण-काण्ड में 19 निर्वाणक्षेत्रों का विवरण प्रस्तुत करके शेष मुनियों के जो निर्वाण क्षेत्र हैं, उनके नामोल्लेख न करके सबकी वन्दना की गयी है। निर्वाणेतर काण्ड में कुछ कल्याण का स्थान और अतिशय क्षेत्र दिये गये हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि प्राकृत निर्वाण-भक्ति में तीर्थभूमियों की इस भेद-कल्पना से ही दिगम्बर समाज में तीन प्रकार के तीर्थ-क्षेत्र प्रचलित हो गये— सिद्ध-क्षेत्र (निर्वाण क्षेत्र), कल्याणक क्षेत्र और अतिशय क्षेत्र।

संस्कृत निर्वाण-भक्ति में प्रारम्भ के बीस श्लोकों में भगवान् वर्धमान का स्तोत्र है। उसके पश्चात् बारह पद्यों में 25 निर्वाण क्षेत्रों का वर्णन है। वास्तव में यह भक्तिपाठ एक नहीं है। प्रारम्भ में बीस श्लोकों में जो वर्धमान स्तोत्र है, वह स्वतन्त्र स्तोत्र है।

उसका निर्वाण भक्ति से कोई सम्बन्ध नहीं है, यह इसके पढ़ने से ही स्पष्ट हो जाता है। द्वितीय पद्य में स्तुतिकार सन्मति का पाँच कल्याणकों के द्वारा स्तवन करने की प्रतिज्ञा करता है और बीसवें श्लोक में इस स्तोत्र के पाठ का फल बताता है। यहाँ यह स्तोत्र समाप्त हो जाता है। फिर इक्कीसवें पद्य में अर्हन्तों और गणधरों की निर्वाण-भूमियों की स्तुति करने की प्रतिज्ञा करता है। और बत्तीसवें श्लोक में उनका समापन करता है। जो भी हो, संस्कृत निर्वाण-भक्ति के रचयिता ने प्राकृत निर्वाण-भक्तिकार की तरह तीर्थ-क्षेत्रों के भेद नहीं किये। सम्भवतः उन्हें यह अभिप्रेत भी नहीं था। उनका उद्देश्य तो निर्वाणक्षेत्रों की स्तुति करना था।

इन दो भक्तिपाठों के अतिरिक्त तीर्थक्षेत्रों से सम्बन्धित कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ दिगम्बर परम्परा में उपलब्ध नहीं है। जो हैं, वे प्रायः 16वीं, 17वीं शताब्दी के बाद के हैं। किन्तु दिगम्बर समाज में उक्त तीन ही प्रकार के तीर्थक्षेत्रों की मान्यता का प्रचलन रहा है– (1) निर्वाण क्षेत्र (2) कल्याणक क्षेत्र (3) अतिशय क्षेत्र।

(1) निर्वाण क्षेत्र :— ये वे क्षेत्र कहलाते हैं, जहाँ तीर्थंकरों का निर्वाण हुआ हो। संसार में शास्त्रों का उपदेश, व्रत-चारित्र, तप आदि सभी कुछ निर्वाण प्राप्ति के लिए है। यही चरम और परम पुरुषार्थ है। अतः जिन स्थानों पर तीर्थंकरों का निर्वाण होता है, उन स्थानों पर इन्द्र और देव पूजा को आते हैं। अन्य तीर्थों की अपेक्षा निर्वाण क्षेत्रों का महत्त्व अधिक होता है। इसलिए निर्वाण-क्षेत्र के प्रति भक्त जनता की श्रद्धा अधिक रहती है। जहाँ तीर्थंकरों का निर्वाण होता है, उस स्थान पर सौधर्म इन्द्र चिह्न लगा देता है। उसी स्थान पर भक्त लोग उन तीर्थंकर भगवान् के चरण-चिह्न स्थापित कर देते हैं। आचार्य समन्तभद्र ने स्वयम्भू स्तोत्र में भगवान् नेमिनाथ की स्तुति करते हुए बताया है कि ऊर्जयन्त (गिरनार) पर्वत पर इन्द्र ने भगवान् नेमिनाथ के चरण-चिह्न उत्कीर्ण किये हैं। ये क्षेत्र कुल पाँच हैं– कैलास, चम्पा, पावा, ऊर्जयन्त और सम्मेदशिखर। पूर्व के चार क्षेत्रों पर क्रमशः ऋषभदेव, वासुपूज्य, महावीर और नेमिनाथ मुक्त हुए। शेष बीस तीर्थंकरों ने सम्मेद शिखर से मुक्ति प्राप्त की।

सिद्ध क्षेत्र :— ये वे क्षेत्र कहलाते हैं, जहाँ से किन्हीं तपस्वी मुनिराज का निर्वाण हुआ हो। जैसे– बड़वानी, सोनागिर, नैनागिर, चौरासी, कुंथलगिरि, मांगीतुंगी, तारवरनगर, पावागढ़, शत्रुंजय, गजपंथा, सिद्धवरकूट, कुण्डलपुर, रेसिंदगिरि, मुक्तागिरि आदि। अन्य मुनियों की जो निर्वाणभूमियाँ हैं, उनमें से कुछ के नाम निर्वाण-भक्ति में दिये हुए हैं।

(2) कल्याणक क्षेत्र :— ये वे क्षेत्र हैं, जहाँ किसी तीर्थंकर का गर्भ, जन्म, दीक्षा (अभिनिष्क्रमण) और केवलज्ञान कल्याणक हुआ है जैसे मिथिलापुरी, भद्रिकापुरी, हस्तिनापुर, शौरीपुर, अहिक्षेत्र, अयोध्या, काकन्दी, वाराणसी, विदेह कुण्डपुर आदि।

(3) अतिशय-क्षेत्र :— जहाँ किसी मन्दिर में या मूर्ति में कोई चमत्कार दिखाई दे, तो वह अतिशय क्षेत्र कहलाता है। जैसे श्री महावीरजी, देवगढ़, हुम्मच पद्मावती आदि।

जो निर्वाण-क्षेत्र अथवा कल्याणक-क्षेत्र नहीं हैं, वे सभी अतिशय-क्षेत्र कहे जाते हैं। अतिशय क्षेत्रों के प्रति जनसाधारण का आकर्षण भौतिक या सांसारिक होता है, आध्यात्मिक नहीं होता। लोग या तो ऐहिक कामनावश वहाँ जाते हैं अथवा उनके मन में अद्भुत कुतूहल होता है। तीर्थक्षेत्रों की स्थापना के मूल में जिस आध्यातिमक भावना का विकास हुआ था, यह भावना थी आत्मिक शान्ति-लाभ और उस क्षेत्र से सम्बन्धित वीतराग तीर्थंकर या महर्षियों के आदर्श से अनुप्राणित होकर आत्मकल्याण की किन्तु अतिशय क्षेत्रों में भौतिक प्रलोभन ही आकर्षण के केन्द्र-बिन्दु होते हैं। हमें लगता है, जैन जनता को ऐहिक कामनाओं की पूर्ति के लिए यद्वा तद्वा जैनेतर देव-स्थानों में जाने से रोकने के लिए ही अतिशय क्षेत्रों की स्थापना की गयी। यह कल्पना सम्भवतः भट्टारक परम्परा की देन है। अतिशय क्षेत्र प्रायः 8-9वीं शताब्दी के बाद के हैं और यह वह काल था, जब जैनधर्म को अपनी अस्तित्व रक्षा के लिए लगभग सभी प्रान्तों में और मुख्यतः दक्षिण भारत में कठिन संघर्ष करना पड़ रहा था। उस काल में जैनधर्म पर जैनों की आस्था बनाये रखने के लिए ही मनीषी आचार्यों और भट्टारकों को अतिशय क्षेत्रों की कल्पना करनी पड़ी। सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से इसका समन्वय भले ही न किया जा सकता हो, किन्तु ऐसी कल्पना के लिए तत्कालीन धार्मिक और राजनैतिक परिस्थिति ही जिम्मेदार कही जा सकती है।

तीर्थों का माहात्म्य :— संसार में प्रत्येक स्थान समान हैं, किन्तु द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का प्रभाव हर स्थान को दूसरे स्थान से पृथक् कर देता है। द्रव्यगत विशेषता, क्षेत्रकृत प्रभाव और कालकृत परिवर्तन हम नित्य देखते हैं। इससे भी अधिक व्यक्ति के भावों और विचारों का चारों ओर के वातावरण पर प्रभाव पड़ता है। जिनके आत्मा में विशुद्ध या शुभ भावों की स्फुरणा होती है, उनमें से शुभ तरंगें निकलकर आसपास के सम्पूर्ण वातावरण को व्याप्त कर लेती हैं। उस वातावरण में शुचिता, शान्ति निर्वैरता और निर्भयता व्याप्त हो जाती है। ये तरंगें कितने वातावरण को घेरती हैं, इसके लिए यही कहा जा सकता है कि उन भावों में, उस व्यक्तिशुचित आदि में जितनी प्रबलता और वेग होगा, उतने वातावरण में वे तरंगें फैल जाती हैं। इसी प्रकार जिस व्यक्ति के विचारों में जितनी कषाय और विषयों की लालसा होगी, उतने परिमाण में, वह अपनी शक्ति द्वारा सारे वातावरण को दूषित कर देता है। इतना ही नहीं, वह शरीर भी पुद्गल-परमाणु और उसके चारों ओर के वातावरण के कारण दूषित हो जाता है। उसके अशुद्ध विचारों और अशुद्ध शरीर से अशुद्ध परमाणुओं की तरंगें निकलती रहती हैं, जिससे वहाँ के वातावरण में फैलकर वे परमाणु दूसरे के विचारों को भी प्रभावित करते हैं। प्रायः सर्वस्वत्यागी और आत्मकल्याण के मार्ग के राही एकान्त शान्ति की इच्छा से वनों में, गिरिकन्दराओं में, सुरम्य नदी-तटों पर आत्मध्यान लगाया करते थे। ऐसे तपस्वी-जनों के शुभ परमाणु उस सारे वातावरण में फैलकर उसे पवित्र कर देते

थे। वहाँ जाति-विरोधी जीव आते तो न जाने उनके मन का भय और संहार की भावना कहाँ तिरोहित हो जाती। वे उस तपस्वी मुनि की पुण्य भावना की स्निग्ध छाया में परस्पर किलोल करते और निर्भय विहार करते थे।

इसी आशय को भगवज्जिनसेन ने आदिपुराण 2/3-23 में व्यक्त किया है। मगध नरेश श्रेणिक गौतम गणधर की प्रशंसा करते हुए कहते हैं– "आपका यह मनोहर तपोवन जो कि विपुलाचल पर्वत के चारों ओर विद्यमान है, प्रकट हुए दयावान के समान मेरे मन को आनन्दित कर रहा है। इस ओर ये हथिनियाँ सिंह के बच्चे को अपना दूध पिला रही हैं और यह हाथी के बच्चे स्वेच्छा से सिंहनी के स्तनों का पान कर रहे हैं।" इस प्रकार का चमत्कार तो तपस्वी और ऋद्धिधारी वीतरागी मुनियों की तपोभूमि में ही देखने को मिलता है। जो उस तपोभूमि में जाता है, वह संसार की आकुलता-व्याकुलताओं से कितना ही प्रभावित क्यों न हो, मुनिजनों की तपोभूमि में जाते ही उसे निराकुल शान्ति का अनुभव होने लगता है और वह जबतक उस तपोभूमि में ठहरता है, संसार की चिन्ताओं और आधि-व्याधियों से मुक्त रहता है।

जब तपस्वी और ऋद्धिधारी मुनियों का इतना प्रभाव होता है तो तीन लोक के स्वामी तीर्थंकर भगवान् के प्रभाव का तो कहना ही क्या है। उनका प्रभाव तो अचिन्त्य है, अलौकिक है। तीर्थंकर प्रकृति सम्पूर्ण पुण्य प्रकृतियों में सर्वाधिक प्रभावशाली होती है और उसके कारण अन्य प्रकृतियों का अनुभाग सुखरूप परिणत हो जाता है। तीर्थंकर प्रकृति की पुण्य वर्गणाएँ इतनी तेजस्वी और बलवती होती हैं कि तीर्थंकर जब माता के गर्भ में आते हैं, उससे छ माह पूर्व से ही वे देवों और इन्द्रों को तीर्थंकर के चरणों का विनम्र सेवक बना देती हैं। इन्द्र छह मास पूर्व ही कुबेर को आज्ञा देता है– भगवान् त्रिलोकीनाथ तीर्थंकर प्रभु का छह माह पश्चात् गर्भावतरण होनेवाला है। उनके स्वागत की तैयारी करो। त्रिलोकीनाथ के उपयुक्त निवास स्थान बनाओ। उनके आगमन के उपलक्ष्य में अभी से उनके जन्म पर्यन्त रत्न और स्वर्ण की वर्षा करो, जिससे उनके नगर में कोई निर्धन न रहे।

ऐसे वे तीर्थंकर भगवान् जिस नगर में जन्म लेते हैं, वह नगर उनकी चरण-धूलि से पवित्र हो जाता है। जहाँ वे दीक्षा लेते हैं, उस स्थान का कण-कण उनके विराग रंजित कठोर तप और आत्मसाधना से शुचिता को प्राप्त हो जाता है। जिस स्थान पर उन्हें केवलज्ञान होता है, वहीं देव समवसरण की रचना करते हैं, जहाँ भगवान् की दिव्य ध्वनि प्रकट होकर धर्मचक्र का प्रवर्तन होता है और उनके भव्य जीव संयम ग्रहण करके आत्म-कल्याण करते हैं, वहाँ तो कल्याण का आकाशचुम्बी मानस्तम्भ ही गड़ जाता है, जो संसार के प्राणियों को आमन्त्रण देता है– 'आओ और अपना कल्याण करो।' इसी प्रकार जहाँ तीर्थंकर देव शेष अघातिया कर्मों का विनाश करके निरंजन परमात्म दशा को प्राप्त होते हैं, वह तो शान्ति और कल्याण का ऐसा अजस्र स्रोत बन

जाता है, जहाँ भक्ति-भाव से जानेवालों को अवश्य शान्ति मिलती है और अवश्य ही उनका कल्याण होता है। निर्वाण ही तो परम पुरुषार्थ है, जिसके कारण अन्य कल्याणकों का भी मूल्य और महत्त्व है। यह माहात्म्य अन्य मुनियों के निर्वाण-स्थान का भी है। यह माहात्म्य उस स्थान का नहीं है किन्तु उन तीर्थंकर प्रभु का है या उन निष्काम तपस्वी मुनिराजों का है जिनके अन्तर में आत्यन्तिक शुद्धि प्रकट हुई, जिनकी आत्मा जन्म-मरण से मुक्त होकर सिद्ध अवस्था को प्राप्त हो चुकी है। इसीलिए तो आचार्य शुभचन्द्र ने ज्ञानार्णव में कहा है–

सिद्धक्षेत्रे महातीर्थे पुराणपुरुषाश्रिते।
कल्याणकलिते पुण्ये ध्यानसिद्धिः प्रजायते।।

सिद्धक्षेत्र महान् तीर्थ होते हैं। यहाँ पर महापुरुष का निर्वाण हुआ है। यह क्षेत्र कल्याणदायक है तथा पुण्यवर्द्धक होता है। यहाँ आकर यदि ध्यान किया जाये तो ध्यान की सिद्धि हो जाती है। जिसको ध्यान-सिद्धि हो गयी, उसे आत्म-सिद्धि होने में विलम्ब नहीं लगता।

तीर्थ-भूमियों का माहात्म्य वस्तुतः यही है कि वहाँ जाने पर मनुष्यों की प्रवृत्ति संसार की चिन्ताओं से मुक्त होकर उस महापुरुष की भक्ति से आत्मकल्याण की ओर होती है। घरपर मनुष्य को नाना प्रकार की सांसारिक चिन्ताएँ और आकुलताएँ रहती हैं। उसे घरपर आत्मकल्याण के लिए निराकुल अवकाश नहीं मिल पाता। तीर्थ-स्थान प्रशान्त स्थानों पर होते हैं। प्रायः तो वे पर्वतों पर या एकान्त वनों में, नगरों के कोलाहल से दूर होते हैं। फिर वहाँ के वातावरण में भी प्रेरणा के बीज छितराये होते हैं। अतः मनुष्य का मन वहाँ शान्त, निराकुल और निश्चिन्त होकर भगवान् की भक्ति और आत्म-साधना में लगता है। संक्षेप में, तीर्थक्षेत्रों का माहात्म्य इन शब्दों में कहा जा सकता है–

श्रीतीर्थपान्थरजसा विरजीभवन्ति तीर्थेषु विभ्रमणतो न भवे भ्रमन्ति।
तीर्थव्ययादिह नराः स्थिरसंपदः स्युः पूज्या भवन्ति जगदीशमथाश्रयन्तः।।

अहा! तीर्थभूमि के मार्ग की रज इतनी पवित्र होती है कि उसके आश्रय से मनुष्य रजरहित अर्थात् कर्ममल रहित हो जाता है। तीर्थों पर भ्रमण करने से अर्थात् यात्रा करने से संसार का भ्रमण छूट जाता है। तीर्थपर धन व्यय करने से अविनाशी सम्पदा मिलती है। और जो तीर्थपर जाकर भगवान् की शरण ग्रहण कर लेते हैं अर्थात् भगवान् के मार्ग को जीवन में उतार लेते हैं, वे जगत्पूज्य हो जाते हैं।

तीर्थ-यात्रा का उद्देश्य :— तीर्थ-यात्रा का उद्देश्य यदि एक शब्द में प्रकट किया जाये तो वह है आत्म-विशुद्धि। शरीर की शुद्धि तेल-साबुन और अन्य प्रसाधनों से होती है। वाणी की शुद्धि लवंग, सौंफ आदि से होती है, ऐसी लोक-मान्यता है। कुछ लोगों की मान्यता है कि पवित्र नदियों, सागरों और भगवान् के नाम-संकीर्तन से सर्वांग विशुद्धि होती है। कुछ मानते हैं कि तीर्थ-क्षेत्र की यात्रा करने मात्र से पापों का क्षय और पुण्य

का संग्रह हो जाता है किन्तु यह बहिर्दृष्टि है। बहिर्दृष्टि अर्थात् बाहरी साधनों की ओर उन्मुखता। किन्तु तीर्थ-यात्रा का उद्देश्य बाह्यशुद्धि नहीं है, वह हमारा साध्य नहीं है, न हमारा लक्ष्य ही बाह्यशुद्धि मात्र है। वह तो हम घरपर भी कर लेते हैं। तीर्थ-यात्रा का ध्येय आत्म-शुद्धि है, आत्मा की ओर उन्मुखता, पर से निवृत्ति और आत्म-प्रवृत्ति हमारा ध्येय है। बाह्य-शुद्धि तो केवल साधन है और वह भी एक सीमा तक। तीर्थ-यात्रा करने मात्र से ही आत्म-शुद्धि नहीं हो जाती। तीर्थ-यात्रा तो आत्म-शुद्धि का एक साधन है। तीर्थ पर जाकर वीतराग मुनियों और तीर्थंकरों के पावन चरित्र का स्मरण करके हम उनकी उस साधना पर विचार करें, जिसके द्वारा उन्होंने शरीर-शुद्धि की चिन्ता छोड़कर आत्मा को कर्म-मल से शुद्ध किया। यह विचार करके हम भी वैसी साधना का संकल्प लें और उसकी ओर उन्मुख होकर वैसा प्रयत्न करें।

कुछ लोगों की ऐसी धारणा बन गयी है कि जिसने तीर्थ की जितनी अधिक बार वन्दना की अथवा किसी स्तोत्र का जितना अधिक बार पाठ किया या भगवान् की पूजा में जितना अधिक समय लगाया, उतना अधिक धर्म किया। ऐसी धारणा पुण्य और धर्म को एक मानने की परम्परा से पैदा हुई है। जिस क्रिया का आत्म-शुद्धि, आत्मोन्मुखता से कोई नाता नहीं, वह क्रिया पुण्यदायक और पुण्यवर्द्धक हो सकती है, वह भी तब, जब मन में शुभ भाव हों, शुभ राग हों।

पुण्य या शुभ राग साधन है, साध्य नहीं। पुण्य बाह्य साधन तो जुटा सकता है, आत्मा की विशुद्धि नहीं कर सकता। आत्मा की विशुद्धि आत्मा के निज पुरुषार्थ से होगी और वह शुभ-अशुभ दोनों रागों के निरोध से होगी। तीर्थ-भूमियाँ हमारे लिए ऐसे साधन और अवसर प्रस्तुत करती हैं। वहाँ जाकर भक्त जन उस भूमि से सम्बन्धित महापुरुष स्मरण, स्तवन और पूजन करते हैं तथा उनके चरित्र से प्रेरणा लेकर अपनी आत्मा की ओर उन्मुख होते हैं। पुण्य की प्रक्रिया सरल है, आत्म-शुद्धि की प्रक्रिया समझने में भी कठिन है और करने में भी। एक बात स्मरण रखने की है कि भक्त जन घाटे में नहीं रहता। वह पाप और अशुभ संकल्प-विकल्पों को छोड़कर तीर्थ-यात्रा के शुभ भावों में लीन रहता है वह अपना समय तीर्थ-वन्दना, भगवान् का पूजन, स्तुति आदि में व्यतीत करता है। इससे वह पुण्य संचय करता है और पापों से बचता है। जब वह आत्मा की ओर उन्मुख होता है तो कर्मों का क्षय करता है, आत्म-विशुद्धि करता है। अर्थात् स्व की ओर उपयोग जाता है तो असंख्यात गुनी कर्म-निर्जरा करता है और पर (भगवान् आदि) की ओर उपयोग जाता है तो पुण्यानुबन्धी पुण्य संचय करता है। यही है तीर्थ-यात्रा का उद्देश्य और तीर्थ-यात्रा का वास्तविक लाभ। तीर्थ-यात्रा से आत्म-शुद्धि होती है। श्री चामुण्डराय चारित्रसार में कहते हैं– **तत्रात्मनो विशुद्ध-ध्यानजलप्रक्षालितकर्ममलकलंकस्य स्वात्मन्यवस्थानं लोकोत्तर-शुचित्वं, तत्साधनानि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रतपांसि तद्वन्तश्च साधवस्तदधिष्ठानानि च निर्वाण-**

भूम्यादिकानि। तत्प्राप्त्युपायत्वाच्छुचिव्यपदेशमर्हन्ति। *-(अशुचि अनुप्रेक्षा)*

विशुद्ध ध्यानरूपी जल से कर्म-मल को धोकर आत्मा में स्थित होने को आत्मा की विशुद्धि कहते हैं। यह विशुद्धि अलौकिक होती है। आत्म-विशुद्धि के लिए सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, सम्यक् तप और इनसे युक्त साधु और उनके स्थान निर्वाणभूमि आदि साधन हैं। ये सब आत्म-शुद्धि प्राप्त करने के उपाय हैं। इसलिए इन्हें भी पवित्र कहते हैं। गोम्मटसार में आचार्य नेमिचन्द्र ने कहा है–

क्षेत्रमंगलमूर्जयन्तादिकमर्हदादीनां निष्क्रमणकेवलज्ञानादिगुणोत्पत्तिस्थानम्।

निष्क्रमण (दीक्षा) और केवलज्ञान के स्थान आत्मगुणों की प्राप्ति के साधन हैं।

तीर्थ पूजा :– वसुनन्दी श्रावकाचार में क्षेत्र-पूजा के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण उल्लेख मिलता है, जो इस प्रकार है–

जिणजम्मण णिक्खमणे णाणुप्पत्तीए तित्थतिण्हेसु।
णिसिहीसु खेत्तपूजा पुव्वविहाणेण कायव्वा।। 452।।

अर्थात् जिन-भगवान् की जन्मकल्याणक भूमि, निष्क्रमण कल्याणक भूमि, केवलज्ञानोत्पत्ति स्थान, तीर्थचिह्न स्थान और निषीधिका अर्थात् निर्वाण-भूमियों में पूर्वोक्त विधान से की हुई पूजा क्षेत्र-पूजा कहलाती है।

आचार्य गुणभद्र 'उत्तर-पुराण' में बतलाते हैं कि निर्वाण-कल्याणक का उत्सव मनाने के लिए इन्द्रादि देव स्वर्ग से उसी समय आये और गन्ध, अक्षत आदि से क्षेत्र की पूजा की और पवित्र बनाया।

कल्पान्निर्वाणकल्याणमन्वेत्यामरनायकाः।
गन्धादिभिः समभ्यर्च्य तत्क्षेत्रमपवित्रयन्।। –(उत्तरपुराण 66/63)

पाँच कल्याणकों के समय इन्द्र और देव भगवान् की पूजा करते हैं और भगवान् के निर्वाण-गमन के बाद इन कल्याणकों के स्थान ही तीर्थ बन जाते हैं। वहाँ जाकर भक्त जन भगवान् के चरणचिह्न अथवा मूर्ति की पूजा करते हैं तथा उस क्षेत्र की पूजा करते हैं। यही तीर्थ-पूजा कहलाती है। वस्तुतः तीर्थ-पूजा भगवान् का स्मरण कराती है क्योंकि तीर्थ भी भगवान् के स्मारक हैं। अतः तीर्थ-पूजा प्रकारान्तर से भगवान् की ही पूजा है।

तीर्थक्षेत्र और मूर्ति-पूजा :– जैनधर्म में मूर्ति-पूजा के उल्लेख प्राचीनतम काल से पाये जाते हैं। पूजा पूज्य पुरुष की की जाती है। पूज्य पुरुष मौजूद न हो तो उसकी मूर्ति बनाकर उसके द्वारा पूज्य पुरुष की पूजा की जाती है। तदाकार स्थापना का आशय भी यही है। इसलिए इतिहासातीत काल से जैन मूर्तियाँ पायी जाती हैं और जैन मूर्तियों के निर्माण और उनकी पूजा के उल्लेख से तो सम्पूर्ण जैन साहित्य भरा पड़ा है। जैन धर्म में मूर्तियों के दो प्रकार बतलाये गये हैं– कृत्रिम और अकृत्रिम। कृत्रिम प्रतिमाओं से अकृत्रिम प्रतिमाओं की संख्या असंख्य गुणी बतायी है। जिस प्रकार प्रतिमाएँ कृत्रिम और अकृत्रिम बतलायी हैं, उसी प्रकार चैत्यालय भी दो प्रकार

के होते हैं– कृत्रिम और अकृत्रिम।

इनमें अकृत्रिम चैत्यालय नन्दीश्वर द्वीप, सुमेरु, कुलाचल, वैताढ्य पर्वत, शाल्मली वृक्ष, जम्बूवृक्ष, वक्षारगिरि, चैत्य वृक्ष, रतिकरगिरि, रुचकगिरि, कुण्डलगिरि, मानुषोत्तर पर्वत, इष्वाकारगिरि, अंजनगिरि, दधिमुख पर्वत, व्यन्तरलोक, स्वर्गलोक, ज्योतिर्लोक और भवनवासियों के पाताल लोक में पाये जाते हैं। इनकी कुल संख्या 85697481 बतलायी गयी है। इन अकृत्रिम चैत्यालयों में अकृत्रिम प्रतिमाएँ विराजमान हैं। सौधर्मेन्द्र ने युग के आदि में अयोध्या में पाँच मन्दिर बनाये और उनमें अकृत्रिम प्रतिमाएँ विराजमान कीं।

कृत्रिम प्रतिमाओं का जहाँ तक सम्बन्ध है, सर्वप्रथम भरत क्षेत्र के प्रथम चक्रवर्ती भरत ने अयोध्या और कैलाश में मन्दिर बनावाकर उनमें स्वर्ण और रत्नों की मूर्तियाँ विराजमान करायीं। इनके अतिरिक्त जहाँ पर बाहुबली स्वामी ने एक वर्ष तक अचल प्रतिमायोग धारण किया था, उस स्थान पर उन्हीं के आकार की अर्थात् पाँच सौ पचीस धनुष की प्रतिमा निर्मित करायी। ऐसे भी उल्लेख मिलते हैं कि दूसरे तीर्थंकर अजितनाथ के काल में सगर चक्रवर्ती के पुत्रों ने तथा बीसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रतनाथ के तीर्थ में मुनिराज वाली और प्रतिनारायण रावण ने कैलाश पर्वत पर इन बहत्तर जिनालयों के तथा रामचन्द्र और सीता ने बाहुबली स्वामी की उक्त प्रतिमा के दर्शन और पूजा की थी।

पुरातात्त्विक दृष्टि से जैन मूर्ति-कला का इतिहास सिन्धु सभ्यता तक पहुँचता है। सिन्धु घाटी की खुदाई में मोहन-जो-दड़ो और हड़प्पा से जो मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं, उनमें मस्तकहीन नग्न मूर्ति तथा सील पर अंकित ऋषभ जिनकी मूर्ति जैन धर्म से सम्बन्ध रखती हैं। अनेक पुरातत्त्ववेत्ताओं ने यह स्वीकार कर लिया है कि कायोत्सर्गासन में आसीन योगी-प्रतिमा आद्य जैन तीर्थंकर ऋषभदेव की प्रतिमा है।

भारत में उपलब्ध जैन मूर्तियों में सम्भवतः तब से प्राचीन जैन मूर्ति तेरापुर के लयणों में स्थित पार्श्वनाथ की प्रतिमाएँ हैं। इनका निर्माण पौराणिक आख्यानों के अनुसार कलिंग नरेश करकण्डु ने कराया था, जो पार्श्वनाथ और महावीर के अन्तराल में हुआ था। यह काल ईसा पूर्व सातवीं शताब्दी होता है। इसके बाद की मौर्यकालीन एक मस्तकहीन जिनमूर्ति पटना के एक मुहल्ले लोहानीपुर से मिली है। वहाँ एक जैन मन्दिर की नींव भी मिली है। मूर्ति पटना संग्रहालय में सुरक्षित है। वैसे इस मूर्ति का हड़प्पा से प्राप्त नग्न मूर्ति के साथ अद्भुत साम्य है। ईसा पूर्व पहली-दूसरी शताब्दी के कलिंग नरेश खारवेल के हाथी-गुम्फा शिलालेख से प्रमाणित है कि कलिंग में सर्वमान्य एक 'कलिंग-जिन' की प्रतिमा थी, जिसे नन्दराज (महापद्मनन्द) ई. पूर्व. चौथी-पाँचवीं शताब्दी में कलिंग पर आक्रमण कर अपने साथ मगध ले गया था और फिर जिसे खारवेल मगध पर आक्रमण करके वापस कलिंग ले आया था। इसके पश्चात् कुषाण काल (ई.पू. प्रथम शताब्दी तथा ईसा की प्रथम शताब्दी) की और इसके बाद की तो अनेक मूर्तियाँ मथुरा, देवगढ़, पभोसा आदि स्थानों पर मिली हैं।

तीर्थ और मूर्तियों पर समय का प्रभाव :— ये मूर्तियाँ केवल तीर्थ क्षेत्रों पर ही नहीं मिलतीं, नगरों में भी मिलती हैं। तीर्थंकरों के कल्याणक स्थानों और सामान्य केवलियों के केवलज्ञान और निर्वाण-स्थानों पर प्राचीन काल में, ऐसा लगता है, उनकी मूर्तियाँ विराजमान नहीं होती थीं। तीर्थंकरों के निर्वाण-स्थान को सौधर्मेन्द्र अपने वज्रदण्ड से चिह्नित कर देता था। उस स्थान पर भक्त लोग चरण-चिह्न बनवा देते थे। तीर्थंकरों के पाँच निर्वाण स्थान हैं। उन पर प्राचीन काल से अब तक चरण-चिह्न ही बने हुए हैं और सब उन्हीं की पूजा करते हैं। शेष तीर्थ स्थानों पर प्राचीन काल में चरण-चिह्न रहे किन्तु वहाँ मूर्तियाँ कब से विराजमान की जाने लगीं, यह कहना कठिन है। इसका कारण यह है कि वर्तमान में किसी भी तीर्थ पर कोई मन्दिर और मूर्ति अधिक प्राचीन नहीं है। भारतीय इतिहास की कुछ शताब्दियाँ जैनधर्म और जैन धर्मानुयायियों के लिए अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण रहीं, जबकि लाखों जैनों को बलात् धर्म-परिवर्तन करना पड़ा, लाखों को अपना मातृ-स्थान छोड़कर विस्थापित होना पड़ा और अपने अस्तित्व की रक्षा और निवास के लिए नये स्थान खोजने पड़े। ऐसे ही काल में अनेक तीर्थक्षेत्रों से जैनों का सम्पर्क टूट गया। वे क्षेत्र विरोधियों के क्षेत्र में होने के कारण वहाँ की यात्रा बन्द हो गयी। अनेक मन्दिरों को विरोधियों ने तोड़ डाला, अनेक मन्दिरों पर जैनेतरों ने अधिकार कर लिया। ऐसे ही काल में जैन लोग अपने कई तीर्थों का वास्तविक स्थान ही भूल गये। फिर भी उन्होंने तीर्थ-भक्ति से प्रेरित होकर उन तीर्थों की नये स्थानों पर उन्हीं नामों से, स्थापना और संरचना कर ली। कुछ जैन तीर्थों का नवनिर्माण पिछली कुछ शताब्दियों में ही किया गया है। उनके मूल स्थानों की खोज होना अभी शेष है। तीर्थों पर प्रायः चरणचिह्न ही रहते थे और उनके लिए एकाध मन्दिर बनाया जाता था। जब मन्दिरों का महत्त्व बढ़ने लगा तो तीर्थों पर भी अनेक मन्दिरों का निर्माण होने लगा।

तीर्थों पर तीर्थंकरों की जो मूर्तियाँ निर्मित होती थीं उनका अध्ययन करने से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि वे सभी नग्न वीतराग होती थीं। जितनी प्राचीन प्रतिमाएँ उपलब्ध होती हैं, वे सभी नग्न हैं। सम्भवतः मथुरा में सर्वप्रथम ऐसी मूर्तियाँ उपलब्ध होती हैं, जिन प्रतिमाओं के चरणों के पास वस्त्र खण्ड मिलता है। कडोरा या लंगोट से चिह्नित प्रतिमाओं के निर्माण का काल तो गुप्तोत्तर युग माना जाता है और उस समय भी इस प्रकार की प्रतिमाओं का निर्माण अपवाद ही माना जा सकता है। तीर्थ-क्षेत्रों में प्राचीन काल से स्तूप, आयागपट्ट, धर्मचक्र, अष्ट प्रातिहार्य युक्त तीर्थंकर मूर्तियों का निर्माण होता था और वे जैन कला के अप्रतिम अंग माने जाते थे किन्तु 11वीं-12वीं शताब्दियों के बाद से तो प्रायः इनका निर्माण समाप्त-सा हो गया। इस बीसवीं शताब्दी में आकर मूर्ति और मन्दिरों का निर्माण संख्या की दृष्टि से तो बहुत हुआ है किन्तु अब तीर्थंकर-मूर्तियाँ एकाकी बनती हैं, उनमें न अष्ट प्रातिहार्य की संयोजना होती है, न उनका कोई परिकर होता है। उनमें भावाभिव्यंजना और सौन्दर्य का अंकन सजीव होता है। ❖❖

चूलगिरि

बड़वाणीवरणयरे दक्खिणभायम्मि चूलगिरिसिहरे।
इंदजिय कुम्भकरणो णिव्वाणगया णमो तेसिं।।

बड़वानी नगर से दक्षिण की ओर चूलगिरि शिखर से इन्द्रजीत, कुम्भकर्ण आदि मुनि मोक्ष गये। मैं उनको नमस्कार करता हूँ। इस गाथा का हिन्दी रूपान्तर इस प्रकार है–

बड़वानी बड़नयर सुचंग, दक्षिणदिशि गिरिचूल उतंग।
इन्द्रजीत अरु कुम्भजु कर्ण, ते बन्दों भवसायर तर्ण।।

संस्कृत निर्वाण भक्ति में इस तीर्थ के सम्बन्ध में कोई उल्लेख नहीं है किन्तु उत्तरकालीन भट्टारकों ने इस क्षेत्र को सिद्धक्षेत्र स्वीकार किया है। यथा– भट्टारक श्रुतसागर ने बोधप्राभृत की 27वीं गाथा की टीका में निर्वाण क्षेत्रों तथा कल्याणक क्षेत्रों का वर्णन करते हुए चूलाचल का उल्लेख किया है। मेघराज कवि ने 'तीर्थ-वन्दना' नामक गुजराती रचना में इस तीर्थ के सम्बन्ध में निर्वाणकाण्ड के समान ही इस प्रकार लिखा है–

वडवानि नगर सुतीर्थ पश्चिम चुलगिरि जानिजोए।
कुम्भकर्ण इंद्रजित सिद्ध हवा ते बखाणि जोए।।

काष्ठा संघ नन्दीतटगच्छ के भट्टारक ज्ञानसागर ने 'सर्वतीर्थवंदना' नामक एक रचना हिन्दी मिश्रित गुजराती में लिखी है। उसमें अनेक तीर्थों का 101 छप्पय छन्दों में परिचय दिया है। चूलगिरि क्षेत्र का परिचय देते हुए वे लिखते हैं–

बड़वाणी वरनयर तास समीप मनोहर।
चूलगिरीन्द्र पवित्र भवयण जन बहुसुखकर।।
कुंभकर्ण मुनिराय इन्द्रजित मोक्ष पधार्या।
सिद्धक्षेत्र जग जाण बहु जन भव जल तार्या।।
बावन संघपति आय करि बिंबप्रतिष्ठा बहुकरी।
ब्रह्मज्ञानसागर वदति कीर्ति त्रिभुवनमां विस्तरी।।

52 संघपतियों ने यहाँ अनेक बिम्बों की प्रतिष्ठाएँ करायीं। क्षेत्रपर संवत् 1380 में प्रतिष्ठित मूर्तियों की बहुत बड़ी संख्या है। सम्भवतः कवि का अभिप्राय इन्हीं मूर्तियों की प्रतिष्ठा से है।

मराठी भाषा के प्रमुख कवि चिमणा पण्डित ने लिखा है कि–

बडवानिनयर दक्षिन भागी, चूलगिरि पर्वत तू पाहे वेगी।
इन्द्रजित कुम्भकर्ण उभय योगी, तपोनिधि झाले शिव सुखमोगी।।

भट्टारक उदयकीर्ति ने भी 'तीर्थ-वन्दना' नामक अपनी रचना में बडवानी से रावण के पुत्र इन्द्रजित् को मुक्त हुआ माना है–

बड़वाणी रावण तणउ पुत्त। हउं बंदउं इंदजित मुणि पवित्त।

12वीं-13वीं शताब्दी के यति मदनकीर्ति ने 'शासन-चतुस्त्रिंशिका' में लिखा है कि यहाँ भगवान् आदिनाथ की 52 हाथ ऊँची मूर्ति है। इसे बृहद्देव कहा जाता है। इसका निर्माण अर्ककीर्ति राजा ने एक ही पाषाण से कराया था। इस स्थान को आदि निषधिका कहा जाता था। वह नगर बृहत्पुर कहलाता था।

द्वापञ्चाशदनूनपाणिपरमोन्मानं करैः पञ्चभिः
यं चक्रे जिनमर्ककीर्तिनृपतिर्ग्रावाणमेकं महत्।
तन्नाम्ना स बृहत्पुरे वरबृहद्देवाख्यया गीयते
श्रीमत्यादिनिषिद्धिकेयमवताद् दिग्वाससां शासनम्।।

भट्टारक सुमतिसागर ने इस क्षेत्र की मूर्ति को बावनगजा माना है। 'सुविंझाचल बावणगजदेव।' भट्टारक जयसागर ने भी इसका स्मरण इस प्रकार किया है–

सुवावनगज विन्ध्याचल ठाय।

अनेक विद्वान् लेखकों ने तीर्थों का वर्णन करते समय चूलगिरि का स्मरण किया है। कुछ लेखकों ने निर्वाण क्षेत्र के रूप में इसका उल्लेख किया है और दूसरे विद्वानों ने यहाँ की आदिनाथ स्वामी की विशाल प्रतिमा, जिसे बावनगजा भी कहते हैं, का वर्णन किया है। वास्तव में जैसे इस क्षेत्र का माहात्म्य निर्वाण क्षेत्र होने के कारण है, उसी प्रकार भारत की सबसे बड़ी प्रतिमा होने के कारण भी इस क्षेत्र का महत्त्व है।

उपर्युक्त उल्लेखों के अनुसार बड़वानी नगर के निकटवर्ती चूलगिरि से रावण-पुत्र इन्द्रजित् और रावण के अनुज कुम्भकर्ण मुनि-अवस्था में तप करके मुक्त हुए। अतः यह क्षेत्र सिद्धक्षेत्र कहलाता है।

आचार्य रविषेणकृत 'पद्मपुराण' में रावण की मृत्यु होने के बाद की एक महत्त्वपूर्ण घटना का वर्णन आया है। एक दिन छप्पन हजार आकाशचारी मुनियों के संघ के साथ अनन्तवीर्य मुनिराज पधारे। उसी दिन रात्रि के समय उन्हें केवलज्ञान उत्पन्न हो गया। देवों ने आकर केवलज्ञान की पूजा की और गन्धकुटी की रचना की। समाचार मिलते ही रामचन्द्र, लक्ष्मण, वानरवंशी, ऋक्षवंशी और राक्षसवंशी सब लोग उनके दर्शनों को आये। भगवान् अनन्तवीर्य केवली का उपदेश सुनकर इन्द्रजीत, कुम्भकर्ण, मारीच आदि ने लंका के उसी कुसुमायुध नामक उद्यान में केवली भगवान् के समीप मुनि-दीक्षा ले ली। कुछ समय पश्चात् वे विभिन्न प्रदेशों में विहार करने लगे।

इन्द्रजीत, कुम्भकर्ण आदि ने किस स्थान से मोक्ष प्राप्त किया, इसका कोई उल्लेख पद्मपुराणकार ने नहीं किया। साधारण-सा संकेत दिया है कि विन्ध्यवन की महाभूमि में जहाँ इन्द्रजीत के साथ मेघवाहन मुनिराज विराजमान रहे, वहाँ मेघरव नामक तीर्थ बन गया (पद्मपुराण 80/136) तथा रजोगुण और तमोगुण से रहित महामुनि कुम्भकर्ण योगी नर्मदा के जिस तीरपर निर्वाण को प्राप्त हुए थे, वहाँ पीठरक्षत नाम का तीर्थ प्रसिद्ध हुआ। यह मेघरव और पीठरक्षित तीर्थ कहाँ हैं आज इसका पता किसी को नहीं है। आचार्य गुणभद्र के 'उत्तरपुराण' में भी इनके निर्वाण-स्थान का उल्लेख नहीं मिलता। इतना अवश्य मिलता है कि सुग्रीव, विभीषण, हनुमान् आदि के साथ रामचन्द्र ने सम्मेदशिखर से निर्वाण प्राप्त किया। (निर्वाण काण्ड तथा अन्य ग्रन्थों में यह स्पष्ट है कि रामचन्द्र, विभीषण, हनुमान, सुग्रीव, नील, महानील, गवय-गवाक्ष इत्यादि निन्यानवे कोड़िमुनि तुंगीगिरि (मांगीतुंगी) से मोक्ष पधारे) कुछ विद्वान् यहाँ प्रयुक्त **'आदि'** शब्द से इन्द्रजीत और कुम्भकर्ण को भी रामचन्द्र के साथ सम्मिलित करने पर जोर देते हैं। विभीषण, सुग्रीव आदि मुनि-अवस्था में रामचन्द्र के साथ रहे हों, यह सम्भव हो सकता है किन्तु इन्द्रजीत और कुम्भकर्ण रामचन्द्र के साथ तपस्या करते हों और सम्मेदशिखर पर अन्त में उनके साथ रहे हों, यह एक क्लिष्ट कल्पना है क्योंकि इन्द्रजीत और कुम्भकर्ण ने लंका की पराजय के बाद ही मुनि-दीक्षा धारण कर ली थी, जबकि रामचन्द्र आदि बहुत समय के पश्चात् मुनि हुए थे। दूसरे, रामचन्द्र के प्रति उनके मन में किसी आकर्षण की सम्भावना ही नहीं थी इसलिए यह स्वीकार करना कठिन है कि इन्द्रजीत और कुम्भकर्ण ने सम्मेदशिखर से मोक्ष प्राप्त किया था और शास्त्रों में भी इस बात का कोई उल्लेख नहीं मिलता कि इन्द्रजीत और कुम्भकर्ण सम्मेदशिखर से मुक्त हुए।

वास्तव में इन्द्रजीत और कुम्भकर्ण का निर्वाण इसी चूलगिरि से हुआ था, इसीलिए यह शताब्दियों से सिद्धक्षेत्र के रूप में प्रसिद्ध रहा है। प्राकृत निर्वाण-भक्ति आचार्य कुन्दकुन्द विरचित है, इस प्रकार की मान्यता प्रचलित है। यदि यह मान्यता ठीक है तो यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं है कि दो सहस्राब्दी पूर्व में भी चूलगिरि सिद्धक्षेत्र के रूप में मान्य रहा है।

भारत की सर्वोन्नत मूर्ति, बावनगजाजी :– चूलगिरि सतपुड़ा, शैल मालाओं की सबसे ऊँची चोटी कही जाती है। यहीं पर भारत की सबसे विशाल मूर्ति विराजमान है। यह मूर्ति आद्य तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव की है जो चूलगिरि के मध्य में एक ही पाषाण में उकेरी हुई है। यह प्रतिमा कायोत्सर्ग मुद्रा में है और 84 फुट ऊँची है। सर्व-साधारण में यह मूर्ति बावनगजाजी के नाम से प्रसिद्ध है। प्राचीन काल में इस प्रान्त में एक हाथ को ही कच्चा गज मानने की परम्परा थी। चूँकि यह प्रतिमा 52 हाथ ऊँची है, अतः जनता में यह बावनगजाजी के नाम से विख्यात हो गयी। श्रवणबेलगोला में

गोम्मटेश्वर की प्रतिमा लगभग 57 फुट की है। सौम्यता और भावमुद्रा में संसार की कोई भी प्रतिमा गोम्मटेश्वर की प्रतिमा के साथ समता नहीं कर सकती। वह सारे पहाड़ को काटकर निर्मित हुई है और निराधार खड़ी हुई है, जबकि बावनगजा की ऋषभदेव प्रतिमा न तो भावांकन में उसकी समानता कर सकती है और न ही वह निराधार खड़ी है। बल्कि पहाड़ के सहारे खड़ी हुई है। यथापि बावनगजाजी की इस प्रतिमा की अपनी कुछ अनुपम विशेषता है और वह है इसकी विशालता। इतनी विशाल प्रतिमा का निर्माण करके जैनों ने कला के क्षेत्र में निश्चय ही एक महान् देन दी है। इसका शिल्प-विधान भी अनूठा है। यह समानुपातिक है। इसके अंग-प्रत्यंग सुडौल हैं। मुखपर विराग, करुणा और हास्य की संतुलित छवि अंकित है।

बावनगजाजी का पूरा माप इस प्रकार है–

मूर्ति की ऊँचाई	84 फुट
एक भुजा से दूसरी भुजा का आकार	26 फुट 6 इंच
भुजा से उँगली तक	46 फुट 2 इंच
कमर से एड़ी तक	37 फुट
सिर का घेरा	26 फुट
पैर की लम्बाई	13 फुट 9 इंच
नाक की लम्बाई	3 फुट 11 इंच
आँख की लम्बाई	3 फुट 3 इंच
कान की लम्बाई	9 फुट 8 इंच
एक कान से दूसरे कान की दूरी	17 फुट 6 इंच
पाँव के पंजे की चौड़ाई	5 फुट

मूर्ति का निर्माण-काल :– यह मूर्ति भूरे देशी पाषाण की बनी हुई है। इस मूर्ति पर कोई लेख नहीं है। अतः इसके निर्माता या प्रतिष्ठाकारक का नाम और प्रतिष्ठा-काल निश्चयपूर्वक कहना कठिन है। यह कैसे आश्चर्य की बात है कि इतनी विशाल कला-मूर्ति के निर्माता कलाकार, प्रतिष्ठाकारक और प्रतिष्ठाचार्य सभी अपने यश के प्रति इतने निरीह रहे हैं कि उन्होंने अपने पीछे अपने परिचय का कोई सूत्र तक नहीं छोड़ा और अपनी समस्त आकांक्षाओं के साकार रूप में यह भव्य-प्रतिमा निर्मित करके अपने आपको सर्वान्तःकरण से भगवान् ऋषभदेव के चरणों में समर्पित कर दिया। वास्तव में युगयुगों तक जगत् के लिए आत्म-कल्याण का मार्ग प्रशस्त करके वे धन्य हो गये।

यहाँ विचारणीय यह है कि यति मदनकीर्ति 13वीं शताब्दी के विद्वान् हैं। उन्होंने इस मूर्ति का उल्लेख किया है। इसका अर्थ है कि यह मूर्ति उनसे पूर्व की है। यतिजी ने इसके निर्माता का नाम अर्ककीर्ति लिखा है। इस नाम के तत्कालीन किसी नरेश का

पता इतिहास-ग्रन्थों में नहीं मिलता। संभवतः वह कोई प्रसिद्ध राजा नहीं होगा।

यतिजी से भी पूर्वकाल के दो लेख इस मन्दिर के सभामण्डप में पूर्व और दक्षिण की ओर उत्कीर्ण हैं। ये लेख संवत् 1223 (सन् 1166) भाद्रपद वदी 14 शुक्रवार के हैं। पूर्ववाले लेख में रामचन्द्र मुनि की प्रशंसा की गयी है तथा दक्षिणवाले लेख में मुनि लोकनन्द, देवनन्द और उनके शिष्य रामचन्द्र की प्रशंसा करते हुए उनके द्वारा यहाँ मन्दिर निर्माण कराने का उल्लेख किया गया है। इसमें जिस मन्दिर के निर्माण का उल्लेख है, सम्भवतः वह चूलगिरि पर स्थित मुख्य मन्दिर ही है किन्तु इसमें बड़ी मूर्ति के निर्माण के बारे में कुछ भी संकेत नहीं किया गया। यह भी सम्भव है कि मुनि रामचन्द्र के उपदेश से अर्ककीर्ति नरेश ने मुख्य मन्दिर और बड़ी मूर्ति का निर्माण कराया हो किन्तु इस प्रकार का कोई स्पष्ट उल्लेख न होने के कारण विश्वासपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। इतना तो सुनिश्चित है कि शिलालेख के अनुसार मुख्य मन्दिर का निर्माण संवत् 1223 में हुआ था और यति मदनकीर्ति द्वारा 52 हाथ ऊँची मूर्ति का उल्लेख करने से स्पष्ट है कि यह मूर्ति मदनकीर्ति के काल में विद्यमान थी। मदनकीर्ति का इतिहाससम्मत काल 13वीं शताब्दी है। एक शिलालेख के अनुसार संवत् 1516 में भट्टारक रत्नकीर्ति ने इस मन्दिर का जीर्णोद्धार कराया। शिलालेख का मूलपाठ इस प्रकार है—

स्वस्ति श्री संवत् 1516 वर्षे मार्गशीर्षे वदि 9 रवौ सूरसेन मेहमुन्द राज्ये श्री काष्ठासंघे माथुरगछे(च्छे) पुष्करगणे भट्टारकः श्री श्रीक्षेमकीर्तिदेवः व्रतनियम-स्वाध्याया-नुष्ठानतपोपशमैकनियम भट्टारकश्रीहेमकीर्तिदेवस्तच्छिष्य महावाद-वादीश्वरराय-वादीपितामहसकलविद्वज्जनचक्रवर्तिनलः श्री कमलकीर्तिदेवस्त-च्छिष्यजिनसिद्धान्त-पाठपयोधिनायकान्तटोपासीन मण्डलाचार्य श्री रत्न कीर्तिना जीर्णोद्धारः कृतः बृहच्चैत्यालयपार्श्वे दशजिनवसतिकाः कारापिताः भट्टेश्वर द्वितीयसं डालु भार्या खेतु द्वि (..........) ना (..........) पद्मिनी खेतुपुत्र सं. वाढा सं पारस एतैः इन्द्रजितः प्रतिमां प्रतिष्ठाप्य नित्यमर्चयन्तो पूजयन्तो वा शुभं तावच्छीसंघस्य।

इस शिलालेख से ज्ञात होता है कि काष्ठासंघ माथुरगच्छ पुष्करगण के भट्टारक क्षेमकीर्ति, उनके शिष्य भट्टारक हेमकीर्ति, उनके शिष्य कमलकीर्ति, उनके शिष्य भट्टारक रत्नकीर्ति देव ने इसका जीर्णोद्धार कराया तथा बड़े मन्दिर के बगल में दस जिनालय बनवाये। उन्होंने इन्द्रजीत की मूर्ति की प्रतिष्ठा करके स्थापित की।

ये भट्टारक ग्वालियर पीठ के स्वामी थे। रत्नकीर्ति के गुरु कमलकीर्ति का आनुमानिक काल संवत् 1506-1510 है। मन्दिर में उत्तर की ओर एक लेख है। उसमें लिखा है कि संवत् 1516 में सूत्रशाला का जीर्णोद्धार किया गया है। इसका अर्थ है कि मन्दिर की तरह सूत्रशाला भी पर्याप्त प्राचीन थी, जिससे उसके जीर्णोद्धार की आवश्यकता हुई।

सारांश यह है कि बावनगजाजी मूर्ति का सही निर्माण काल तो निश्चित नहीं हो पाया, किन्तु यह 13वीं शताब्दी से पूर्वकालिक है। यहाँ का मुख्य मन्दिर 12वीं शताब्दी में निर्मित हुआ था। सम्भवतः सूत्रशाला की रचना भी इसी काल में हुई थी। मुख्य मन्दिर के निकटवर्ती 10 मन्दिरों का निर्माण भट्टारक रत्नकीर्ति के उपदेश से 15वीं शताब्दी में किया गया। ज्ञात इतिहास के अनुसार विक्रम संवत् 1129 (1072 ई.) में किन्हीं टोडरशाह ने मतिचन्द गुरु की प्रेरणा से यहाँ पंचकल्याणक महापूजा कराई थी। बाद में संवत् 1223, 1380 और 1508 में भी क्षेत्र पर भी जीर्णोद्धार आदि कराये जाने के भी संकेत मिलते हैं।

इसके पश्चात् मुस्लिम-काल में और उसके बाद भी बहुत समय तक इस मूर्ति की उपेक्षा रही। मूर्ति के ऊपर धूप और वर्षा से बचाव के लिए न छतरी थी और न प्रक्षाल आदि करने के लिए सीढ़ी। भुरभुरे पाषाण की होने के कारण यह प्रकृति के असह्य प्रहारों के कारण खिरती भी रहती थी। वर्षा का पानी पहाड़ के भीतर प्रवेश करके मूर्ति के आस-पास से निकलता रहता था। अतः भय होने लगा कि कहीं यह विशाल प्रतिमा नष्ट न हो जाये। तब दिगम्बर जैन समाज ने इसकी सुरक्षा की ओर ध्यान देना आरम्भ किया, कई प्रसिद्ध इंजीनियरों और पुरातत्त्व विभाग के अधिकारियों से परामर्श किया गया और माघ सुदी 1 वीर सं. 2447 को जीर्णोद्धार प्रारम्भ हुआ। इसमें 59000 रुपये व्यय हुए। इसके फलस्वरूप मूर्ति के दोनों ओर गैलरी बना दी गयी, जहाँ खड़े होकर आसानी से अभिषेक किया जा सके। धूप और वर्षा से बचाव के लिए मूर्ति के ऊपर 40 फुट लम्बे 11 फुट चौड़े गर्डर डालकर ऊपर ताँबे के पत्रों की छत बनवा दी गयी है। इस प्रकार इस मूर्ति की सुरक्षा की गयी है। मूर्ति के ऊपर पालिश भी करा दी गयी है। इससे मूर्ति सौम्य और आकर्षक हो गयी है। सन् 1930 में इन्दौर में सेठ परसनाथ दुलीचन्द फर्म के सेठ फतेहचन्द जी ने सर सेठ हुकमचन्द के नेतृत्व में इस क्षेत्र पर जिनबिम्ब प्रतिष्ठा का अनुष्ठान सम्पन्न कराया था, इसी बीच सेठ हरसुख जी पहाड़िया व लाला देवी सहाय ने भी तीर्थ पर जीर्णोद्धार का कुछ काम कराया था।

बड़वानी के मन्दिर :– बड़वानी में एक विशाल दिगम्बर जैन मन्दिर है। मन्दिर में मूलनायक भगवान् नेमिनाथ की भव्य प्रतिमा है, जिसकी प्रतिष्ठा संवत् 1380 में हुई थी। इसके पादपीठ पर इस विषयक मूर्ति-लेख भी है। चूलगिरि क्षेत्र की 4 धर्मशालाएँ भी यहाँ पर हैं। धर्मशालाओं के निकट ही श्री हरसुखराय दिगम्बर जैन छात्रावास तथा श्री महावीर चैत्यालय है। जैन धर्मशाला और जैन छात्रावास जिस जमीन पर बने हुए हैं, वह जमीन 31 जुलाई 1967 को तत्कालीन बड़वानी नरेश महाराणा जसवन्तसिंह जी ने दिगम्बर जैनों को भेंटस्वरूप दी थी। यह जमीन राणापुरा मुहल्ले की खाई के पश्चिम की ओर उत्तर-पश्चिम में 500 हाथ तथा पूर्व-पश्चिम में 500 हाथ लम्बी-चौड़ी और चौरस है। जब इसके आसपास आबादी बढ़ गयी और जमीन का

मूल्य बढ़ गया, तब 28.7.1916 को इस जमीन के बदले जैन धर्मशाला के पीछे की खराब जमीन देने के लिए तत्कालीन बड़वानी रियासत के दरबार ऑफिस की ओर से आदेश जारी हुआ। जिसके विरोध में सारे भारत के दिगम्बर जैन समाज में आन्दोलन हुआ। फलतः नरेश को आदेश वापस लेना पड़ा। इसके बाद वहाँ के दरबार और म्युनिसिपैलिटी ने इस भूमि पर जैनों के कानूनी अधिकार को मान्य करने का लिखित आश्वासन दिया। वहाँ की नगरपालिका ने प्रस्ताव पास करके जैन समाज को छात्रावास और धर्मशाला बनाने की आज्ञा दी है। इस प्रकार इस भूमि पर जैन समाज का वैध अधिकार है। उसने इसका बहुत विकास किया है। इस भूमि पर धर्मशाला, छात्रावास और मन्दिर जन-कल्याण के लिए बनाये गये हैं।

क्षेत्र-दर्शन :– बड़वानी से पहाड़ी मार्ग द्वारा चूलगिरि क्षेत्र 7 कि.मी. है। क्षेत्र तक पक्की सड़क है। इस सड़क को बनवाने के लिए दिगम्बर जैन समाज ने भी सहयोग दिया था। सड़क का नाम बावनगजा रोड है।

तलहटी की धर्मशालाओं के पास दो गुफाएँ बनी हुई हैं। धर्मशाला के पास ही एक छोटा-सा मन्दिर मिलता है। यह नेमिनाथ मन्दिर है, इसमें कृष्ण पाषाण की 1 फुट 2 इंच ऊँची भगवान् नेमिनाथ की पद्मासन प्रतिमा विराजमान है। यह संवत् 1939 में प्रतिष्ठित हुई है। इसके बगल में चन्द्रप्रभ भगवान् की 2 फुट 1 इंच ऊँची पद्मासन मुद्रा में श्वेत वर्ण प्रतिमा विराजमान है। इसकी प्रतिष्ठा संवत् 1967 में हुई है।

आगे एक द्वार मिलता है। यह विश्राम स्थान भी है। इसके बगल में जिनालय है। मन्दिर में घुसते ही बायीं ओर 3 फुट 8 इंच की देशी पाषाण की आदिनाथ स्वामी की पद्मासन प्रतिमा है, जिसका प्रतिष्ठा संवत् 1380 है। इसके बगल के गर्भगृह में 3 फुट 3 इंच ऊँची भगवान् नेमिनाथ की कृष्ण पाषाण की पद्मासन प्रतिमा विराजमान है। जिसकी प्रतिष्ठा संवत् 1967 में हुई थी। इसके बायीं ओर 2 फुट 5 इंच ऊँची भगवान् पार्श्वनाथ की कृष्ण वर्ण की पद्मासन प्रतिमा है जो संवत् 1939 की प्रतिष्ठित है। दायीं ओर 3 फुट 5 इंच समुन्नत देशी पाषाण की भगवान् पार्श्वनाथ की खड्गासन मूर्ति है। वेदी पर प्राचीन चरण हैं।

दूसरे गर्भालय में भगवान् शान्तिनाथ की देशी पाषाण की खड्गासन प्रतिमा विराजमान है। अवगाहन 10 फुट है और प्रतिष्ठा संवत् 1380 है। इसे नौगजाजी कहा जाता है। भगवान् के सिर के पृष्ठभाग में भामण्डल अलंकृत है तथा सिर के ऊपर छत्रत्रयी है। भगवान् के चरणों के दोनों ओर सौधर्म और ऐशान इन्द्र चमर हाथ में लिये सेवारत हैं। बायीं ओर कुन्थुनाथ भगवान् की 4 फुट 7 इंच उन्नत प्रतिमा है और दायीं ओर 5 फुट उन्नत अरहनाथ विराजमान हैं। इन प्रतिमाओं के परिकर में भामण्डल और चमरवाहक हैं तथा प्रतिष्ठाकारक और उनकी पत्नी हाथ जोड़े हुए भगवान् की सेवा में खड़े हैं। शान्तिनाथ की चरण-चौकी पर उसका प्रतिष्ठा काल संवत् 1380 अंकित है।

इन मन्दिरों से बावनगजा जी तक जाने के लिए सीढ़ियाँ बनी हुई हैं। मध्य में पार्श्वनाथ मन्दिर है। पार्श्वनाथ भगवान् की भूरे देशी पाषाण की 4 फुट 7 इंच उन्नत पद्मासन प्रतिमा विराजमन है। चरण-चौकी पर अंकित मूर्ति-लेख के अनुसार इसकी प्रतिष्ठा संवत् 1242 में की गयी। प्रतिष्ठाकारक और उनकी पत्नी भगवान् के दोनों ओर चरणों में हाथ जोड़े हुए बैठे हैं। इस मन्दिर से कुछ ही दूरी पर देवाधिदेव ऋषभदेव स्वामी की जगद्विख्यात प्रतिमा उच्च पर्वत शिखर पर खड़ी संसार के सन्त्रस्त प्राणियों के ऊपर अनन्त करुणा की वर्षा कर रही है। यही प्रतिमा बावनगजा जी के नाम से जगविश्रुत है। उनके चरणों में पहुँचकर उनकी महानता के समक्ष अपनी हीनता और अकिंचनता का बोध होता है। उनके पास जाते ही उनके चरणों में मस्तक स्वतः झुक जाता है। मन पावनता से स्निग्ध हो उठता है। जगत् की नानाविध आकुलताओं से सन्तप्त मानस पर मानो शीतल फुहारें पड़ने लगती हैं। हृदय भक्ति से तरंगित हो उठता है। जब चरणों से मस्तक हटाकर ऊपर की ओर दृष्टि उठाते हैं तो महाप्रभु के मुख पर अनिंद्य मुसकान बिखरी हुई दिखाई पड़ती है। लगता है, प्रभु हम पर करुणा की वर्षा करके अभय दे रहे हैं। उनकी पावन छाया में पहुँचकर शान्ति का अनुभव होने लगता है।

भगवान् ऋषभदेव की यह प्रतिमा खड्गासन मुद्रा में है। यह पहाड़ में से ही उकेरी गयी है। यह गोम्मटेश के समान निराधार नहीं है बल्कि उसे पहाड़ का आधार प्राप्त है। यह अपनी उच्चता में अद्वितीय है। प्रतिमा की छाती पर श्रीवत्स लांछन है। प्रतिमा के हाथ जाँघों से मिले हुए नहीं हैं, पृथक् हैं। बायीं ओर चतुर्भुजी गोमुख यक्ष और दायीं ओर षोडशभुजी चक्रेश्वरी यक्षी की मूर्ति है। ये भगवान् ऋषभदेव के सेवक यक्ष-यक्षी हैं। इस प्रतिमा के दर्शन चरणों में खड़े होकर नहीं हो पाते, इसके लिए मूर्ति से कुछ हटकर सामने खड़ा होना पड़ता है।

बायीं ओर दीवार में दो फुट ऊँचे एक शिलाफलक में अजितनाथ तीर्थंकर की पद्मासन प्रतिमा उत्कीर्ण है। परिकर में भामण्डल, छत्र, गजलक्ष्मी और मालाधारी गन्धर्व हैं। चमरवाहक एक हाथ में चमर तथा दूसरे हाथ में जलकलश लिये हुए हैं। प्रतीकात्मक रूप से सौधर्म और ऐशान इन्द्रों को सानत्कुमार और माहेन्द्र इन्द्रों के कार्यों को करते हुए दिखाया गया है। अधोभाग में अजितनाथ के यक्ष-यक्षी महायक्ष और अजिता बने हुए हैं। चरण-चौकी पर अजितनाथ का लांछन हाथी अंकित है।

बड़ी मूर्ति के आगे एक बड़ा चबूतरा है तथा दोनों बाजुओं में दालान या सभामण्डप बने हुए हैं।

बड़ी मूर्ति के अभिषेक आदि के उद्देश्य से ऊपर जाने के लिए सीढ़ियाँ और मंच बने हुए हैं। ऊपर मूर्ति के सिर के पीछे एक कमरे में तीन वेदियाँ बनी हुई हैं। मध्यवेदी में भगवान् चन्द्रप्रभ की श्वेत पाषाण की कायोत्सर्गासन प्रतिमा है जिसकी अवगाहना 3 फुट है। यह वीर संवत् 2457 में प्रतिष्ठित हुई है।

शेष दोनों वेदियों में इसी संवत् के प्रतिष्ठित तीन मुनियों के चरण-चिह्न बने हुए हैं। मुनियों के नाम हैं— मुनि आनन्दसागरजी, मुनि शान्तिसागरजी और मुनि ज्ञानसागरजी।

बावनगजा जी के कुछ ऊपर जाने पर एक द्वार मिलता है। बायीं ओर को आदिनाथ मन्दिर है। इसमें भगवान् ऋषभदेव की संवत् 1380 की एक पद्मासन प्रतिमा विराजमान है। इसकी अवगाहना 2 फुट है। बायीं ओर 1 फुट 1 इंच ऊँचे और 1 फुट 5 इंच चौड़े शिलाफलक में एक पद्मासन तीर्थंकर प्रतिमा विराजमान है। इसके दोनों पार्श्वों में दो खड्गासन प्रतिमाएँ बनी हुई हैं। दायीं ओर एक फलक में यक्ष-यक्षी बने हुए हैं। दोनों बैठे हुए हैं। उनके दोनों पैर लटके हुए हैं। ये दोनों प्रतिमाएँ पहाड़ पर उत्खनन में प्राप्त हुई थीं। दायीं ओर श्वेत वर्ण चन्द्रप्रभ विराजमान हैं। प्रतिमा का आकार 1 फुट 7इंच है। यह पद्मासन है और संवत् 1967 की प्रतिष्ठित है।

मन्दिर के बाहर दो खण्डित तीर्थंकर मूर्तियाँ रखी हुई हैं। ये भी उत्खनन में प्राप्त हुई बतायी जाती हैं। पहाड़ की चोटी पर चूलगिरि मन्दिर है। यही सिद्धभूमि है। यहीं से मुनि इन्द्रजीत, मुनि कुम्भकर्ण और अन्य अनेक मुनि मुक्त हुए हैं। उनकी साधना, तपस्या और वीतरागता से पवित्र हुए यहाँ के परमाणु अब तक यहाँ के कण-कण में व्याप्त हैं। देवताओं और इन्द्रों ने इन मुनियों का निर्वाणोत्सव इसी स्थान पर आकर धूमधाम से मनाया था।

चूलगिरि मन्दिर में महामण्डप और गर्भालय हैं। अन्य मन्दिरों के समान यह मन्दिर शिखरबन्द है। गर्भालय में वेदी पर उक्त मुनिराजों के तीन चरण-चिह्न बने हुए हैं तथा श्वेत पाषाण की दो प्रतिमाएँ विराजमान हैं— मल्लिनाथ और चन्द्रप्रभ। इनके चरण-पीठ पर क्रमशः कलश और अर्धचन्द्र ये चिह्न अंकित हैं। इनके अतिरिक्त महामण्डप में दोनों ओर 36 मूर्तियाँ विराजमान हैं। इनमें 2 मूर्तियाँ खण्डित हैं। इन मूर्तियों में 14 मूर्तियाँ संवत् 1380 की हैं, शेष संवत् 1939 की प्रतिष्ठित हैं। मूर्तियों की चरण-चौकी पर मूर्ति-लेख अंकित हैं। 36 मूर्तियों में 17 श्वेत, 6 कृष्ण और 13 भूरे वर्ण की हैं। मन्दिर के महामण्डप में 4 शिलालेख भी हैं। शिलालेख संवत् 1116, 1223 और 1508 के हैं। इन शिलालेखों के अनुसार इन संवतों में इस मन्दिर का निर्माण एवं जीर्णोद्धार किया गया था। इससे प्रतीत होता है कि सिद्धक्षेत्र के रूप में इस क्षेत्र की मान्यता प्राचीन काल से चली आ रही है। मन्दिर के बाहर बने हुए अहाते के आलों में 22 मूर्तियाँ रखी हुई हैं। ये सब पहाड़ पर उत्खनन में प्राप्त हुई थीं। इन मूर्तियों में नेमिनाथ की एक मूर्ति 4 फुट 4 इंच तथा पार्श्वनाथ की एक मूर्ति 4 फुट 3 इंच की है। ये मूर्तियाँ प्रायः खण्डित हैं। कुछ मूर्ति-लेखों के अनुसार ये संवत् 1380 की हैं। इस मन्दिर के पृष्ठ भाग में एक गुमटी या मन्दिरिया बनी हुई है। इसमें तीन वेदियाँ हैं। सामने वाली वेदी में 2 फुट 2 इंच ऊँची एक खड़ी नग्न मूर्ति है। मूर्ति हाथ जोड़े हुए है। इसके दोनों ओर चमरवाहक हैं। मूर्ति के साथ पीछी-कमण्डल नहीं हैं। दायीं दीवार में कृष्ण पाषाण की

हाथ जोड़े हुए मुनि-मूर्ति है। नीचे हाथ जोड़े हुए श्रावक-श्राविका हैं। इस मूर्ति के अधोभाग में लेख अंकित है। इसी प्रकार बायीं ओर की दीवार में भी एक मुनि-मूर्ति खड़ी है। उसके दोनों पार्श्वों में चमरवाहक हैं। बगल में एक यक्षी-मूर्ति है। इन तीनों मूर्तियों का आकार 1 फुट 8 इंच है। कुछ लोगों की धारणा है कि दायीं ओर की दीवार में बनी हुई मूर्ति आचार्य कुन्दकुन्द की है और शेष दोनों मूर्तियाँ दो गणधरों की हैं। इस मूर्ति-लेख को देखकर यह भ्रान्ति पकड़ में सरलतापूर्वक आ जाती है। मूर्ति-लेख के प्रारम्भ में 'कुन्दकुन्द ...न्वये' रह गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि 'कुन्दकुन्द' शब्द को पढ़कर इस मूर्ति को ही कुन्दकुन्द मान लिया गया जबकि वास्तविकता यह नहीं है।

चूलगिरि क्षेत्र की तलहटी के मन्दिरों का विवरण इस प्रकार है–

(1) पार्श्वनाथ मन्दिर– इसमें मूलनायक भगवान् पार्श्वनाथ की कृष्ण पाषाण की 3 फुट की पद्मासन मूर्ति है। इस मन्दिर में 5 पाषाण और 2 धातु मूर्तियाँ हैं।

(2) चन्द्रप्रभ मन्दिर– इसमें चन्द्रप्रभ भगवान् की 3 फुट 5 इंच उन्नत श्वेतवर्ण पद्मासन मूर्ति है और है। इसके अतिरिक्त यहाँ 2 पाषाण की तथा 2 धातु की मूर्तियाँ हैं।

(3) पार्श्वनाथ मन्दिर– इसमें 3 फुट उन्नत पार्श्वनाथ स्वामी की मूर्ति नौ फणावली से मण्डित है। मूर्ति कृष्ण पाषाण की है और पद्मासन है। इसके अतिरिक्त इस मन्दिर में 3 पाषाण की और 6 धातु की मूर्तियाँ और भी हैं।

(4) पार्श्वनाथ मन्दिर– इसमें भगवान् पार्श्वनाथ की कृष्ण वर्ण की 3 फुट ऊँची पद्मासन प्रतिमा विराजमान है।

(5) शान्तिनाथ मन्दिर– इसमें मूलनायक शान्तिनाथ स्वामी की 3 फुट 3 इंच अवगाहना वाली श्वेत वर्ण प्रतिमा है। यह पद्मासन मुद्रा में ध्यानावस्थित है। यहाँ 6 पाषाण की और 1 धातु की प्रतिमा और है। धातु की एक चौबीसी संवत् 1487 की है।

(6) पार्श्वनाथ मन्दिर– यहाँ पार्श्वनाथ भगवान् की श्यामवर्ण 3 फुट 3 इंच ऊँची पद्मासन प्रतिमा है। इसके अतिरिक्त दो पाषाण प्रतिमाएँ और हैं।

(7) वासुपूज्य मन्दिर– मूलनायक प्रतिमा वासुपूज्य भगवान की है। यह श्वेतवर्ण एवं पद्मासन है। इसका आकार 2 फुट 6 इंच है। प्रतिष्ठा संवत् 2005 की है।

(8) चन्द्रप्रभ मन्दिर– इसमें चन्द्रप्रभ की एकमात्र प्रतिमा है। श्वेतवर्ण की यह पद्मासन प्रतिमा 2 फुट 6 इंच ऊँची है। मन्दिर का निर्माण संवत् 1947 में हुआ।

(9) पार्श्वनाथ मन्दिर– यहाँ केवल पार्श्वनाथ स्वामी विराजमान हैं। यह मूर्ति कृष्णवर्ण पद्मासन है तथा 3 फुट 6 इंच उन्नत है।

(10) नेमिनाथ मन्दिर– मूलनायक के रूप में यहाँ भगवान् नेमिनाथ की कृष्णवर्ण की प्रतिमा विराजमान है। इसकी अवगाहना 1 फुट 6 इंच है। यह पद्मासन में है। इसके अतिरिक्त यहाँ दो प्रतिमाएँ और विराजमान हैं।

(11) आदिनाथ मन्दिर– यहाँ मूलनायक श्री आदिनाथ भगवान् की कृष्णवर्ण पद्मासन

प्रतिमा है। इसकी अवगाहना 1 फुट 2 इंच है। इसके अलावा पाषाण की दो और भी प्रतिमाएँ यहाँ विराजमान हैं।

(12) पार्श्वनाथ मन्दिर– पार्श्वनाथ भगवान् की यह मूलनायक प्रतिमा 1 फुट 9 इंच अवगाहना वाली है, श्वेत पाषाण की है और पद्मासन है। इस वेदी पर पाषाण की दो प्रतिमा और हैं।

(13) शान्तिनाथ मन्दिर– इसमें मूलनायक प्रतिमा भगवान् शान्तिनाथ की है। यह श्वेत पाषाण की 3 फुट 6 इंच ऊँची पद्मासन मुद्रा में है। इसके अतिरिक्त दो पाषाण-प्रतिमाएँ और विराजमान हैं।

(14) आदिनाथ मन्दिर– इसमें मूलनायक भगवान् आदिनाथ की श्वेतवर्ण प्रतिमा 3 फुट 6 इंच उन्नत है और पद्मासन है। इस वेदी पर दो पाषाण प्रतिमाएँ और भी विराजमान हैं।

(15) चन्द्रप्रभ मन्दिर– यहाँ साढ़े तीन फुट उत्तुंग भगवान् चन्द्रप्रभ की मूलनायक प्रतिमा श्वेत पाषाण की है और पद्मासन है। उसके अतिरिक्त दो पाषाण प्रतिमाएँ और हैं।

(16) आदिनाथ मन्दिर– 3 फुट 9 इंच की भगवान् आदिनाथ की श्वेत पाषाण की मूलनायक प्रतिमा पद्मासन मुद्रा में है। वेदी पर 4 पाषाण प्रतिमाएँ और हैं।

(17) चन्द्रप्रभ मन्दिर– मूलनायक प्रतिमा भगवान् चन्द्रप्रभ की है। यह 3 फुट 9 इंच उन्नत है, पद्मासन है और श्वेत पाषाण की है। यहाँ दो पाषाण प्रतिमाएँ और हैं।

(18) आदिनाथ मन्दिर– यहाँ आदिनाथ भगवान् की मूलनायक प्रतिमा 3 फुट 10 इंच ऊँची श्वेत पाषाण की है और पद्मासन है। इस वेदी पर दो पाषाण प्रतिमाएँ और हैं।

(19) महावीर मन्दिर– 3 फुट 6 इंच ऊँची महावीर स्वामी की श्वेतवर्ण पद्मासन प्रतिमा इस मन्दिर की मूलनायक प्रतिमा है। दो-पाषाण प्रतिमाएँ और विराजमान हैं।

(20) मानस्तम्भ– मानस्तम्भ 60 फुट ऊँचा है। इसकी शिखर वेदिका पर पुष्पदन्त भगवान् की श्वेतवर्ण की 4 पद्मासन और 4 खड्गासन प्रतिमाएँ विराजमान हैं।

इस प्रकार पहाड़ की तलहटी में 19 मन्दिर, 1 मानस्तम्भ और 1 छत्री है।

क्षेत्र पर जितनी मूर्तियाँ हैं, उनमें दो मूर्तियाँ मुनि सुव्रतनाथ की हैं जो वि.सं. 1131 की हैं। यह मूर्तियाँ ही यहाँ की प्राचीनतम मूर्तियाँ हैं। इनके अतिरिक्त पार्श्वनाथ की दो मूर्तियाँ संवत् 1242 की हैं। एक धातु मूर्ति संवत् 1487 की है। संवत् 1380 और 1939 की मूर्तियों की संख्या बहुत है। तलहटी के मन्दिरों में 13 मन्दिर एक अहाते में बने हुए हैं तथा 6 मन्दिर अलग-अलग बने हुए हैं।

क्षेत्र पर उल्लेखनीय मेला संवत् 1939 एवं 1987 में भी हुआ था, दोनों ही बार पंचकल्याणक प्रतिष्ठा हुई। संवत् 1980 की प्रतिष्ठा के समय बावनगजा जी का महामस्तकाभिषेक हुआ था। इसी समय बावनगजा जी, नौ गजा जी तथा बड़वानी के मन्दिरों पर स्वर्ण कलश भी चढ़ाए गए थे। ❖❖

मथुरा

संकलन : **सतीश जैन** (आकाशवाणी)

जैनधर्म में अवसर्पिणी युग में 24 तीर्थंकरों का मार्गदर्शन धर्मानुलम्बियों को प्राप्त है। ईसा से 800 वर्ष पूर्व तक का इतिहास कुछ न कुछ ऐतिहासिक साक्ष्य के साथ तो मिल जाता है पर❖❖ इससे पूर्व के इतिहास पर हमें केवल विश्वास और श्रद्धा का ही सहारा लेना पड़ता है। ऋषभनाथ से लेकर नेमिनाथ या अरिष्टनेमि तक की मूर्तियाँ कुछ की अधिक, कुछ की कम मिल जाती हैं, पर इतिहास की दृष्टि से वे हमारा अधिक ज्ञानवर्धन नहीं कर पाती हैं। भगवतीसूत्र (20.8.15) में वर्णित आधार पर हेमचन्द्र ने पुस्तक 'योगशास्त्र' में लिखा है– वो तीर्थंकर इसलिये हैं क्योंकि वो संसार-सागर का तरण करने में सहायता करते हैं अथवा वो चतुर्वगीय (साधु, साध्वी, श्रावक एवं श्राविका) के रूप में तीर्थ को स्थापना करते हैं। यह ऋग्वेद (1.46.8) के वाक्य **तीर्थो सिन्धुना रथः** से बिल्कुल मिलता-जुलता है।

शास्त्रीय-परम्परा से तो मथुरा का जैनधर्म में भगवान् ऋषभनाथ के समय से सम्बन्ध स्थापित होता है। उनके समय जिन 52 राज्यों का निर्माण हुआ उनमें शूरसेन भी एक था और मथुरा उसकी राजधानी थी। इसे अर्हन्त प्रतिष्ठित, चिरकाल प्रतिष्ठित कहकर सम्मान व्यक्त किया गया है। मथुरापुरीकल्प में जिनप्रभसूरि ने वर्णन किया है कि मथुरा नगर को धर्मतीर्थ बनाने का सौभाग्य सातवें तीर्थंकर सुपार्श्व के समय में ही हो गया था। सातवें तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ को यहाँ विशेष रूप से पूज्यभाव से अपनाकर उनकी स्मृति में महालक्ष्मी निर्मित रत्नजड़ित श्री सुपार्श्वस्तूप, जिसे देवनिर्मित भी कहा जाता है, बनाए जाने का उल्लेख है। बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ या अरिष्टनेमि नारायण श्रीकृष्ण के ताऊ समुद्रविजय के पुत्र थे। तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के समय सुपार्श्वनाथ जी की स्मृति में बनाये स्तूप का पुनरुद्धार हुआ। अन्तिम तीर्थंकर महावीर स्वामी के मथुरा पधारने का भी उल्लेख है। साथ ही अन्तिम अनुबद्ध केवली जम्बूस्वामी ने यहाँ से कैवल्य व मोक्ष प्राप्त किया। सूत्रसाहित्य में मथुरा को दस प्रमुख राजधानियों में माना है।

मथुरा धार्मिक और कलात्मक समन्वय के रूप में प्रसिद्ध हुई। मथुरा सर्वदेशिक नगर के रूप में प्रसिद्ध हुआ। मथुरा मथु नामक राक्षस के द्वारा पालित था। शूरसेन

की राजधानी मथुरा में ई.पूर्व दूसरी शती में जैन संस्कृति का उद्‌भव हो चुका था। मथुरा वैदिक, जैन, बौद्ध धार्मिक सहिष्णुता का स्थान रहा है। मथुरा से प्राप्त पुरातात्विक अवशेषों से ज्ञात होता है कि वहाँ कितनी वैभवपूर्ण संस्कृति रही है। मथुरा से सात सौ की संख्या में जैन मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। जिस स्थान पर 500-500 डाकूओं ने जम्बूस्वामी के चरणों में प्रायश्चितपूर्वक अपना जीवन अर्पित किया।

मथुरा नगरी 12 योजन दीर्घ और 9 योजन विस्तीर्ण थी। वह यमुना के जल से प्रक्षालित उत्तुंग प्राचीन से अलंकृत थी और असंख्य जिन मन्दिरों, देवालयों, धवलभवनों, पुष्करणियों एवं हाट-बाजारों से सुशोभित थी, वहाँ अनेक चातुर्विध, ब्राह्मण नित्य शास्त्र पाठ करते थे।

जिनवाणी रूप शास्त्रों को लिपिबद्ध करने एवं उनकी सुरक्षा करने के लिए सरस्वती आन्दोलन मथुरा से प्रथमशती में आरम्भ हुआ। सरस्वती की प्राचीनतम मूर्ति जो दूसरी शती ई. के प्रथम भाग की है, कंकाली टीले से मिली अंगसाहित्य को व्यवस्थित करने के लिए चौथी शती ई. में आचार्य स्कन्दिल के नेतृत्व में माथुरी वाचना हुई। इस प्रकार मथुरा का जैनधर्म से प्रगाढ़ सम्बन्ध होने के अनेक कारण हैं।

कुषाण राज्य के समय में जैन समाज बौद्धों से अधिक बढ़ा था। जैन मूर्तियों का आकार भी बौद्ध मूर्तियों से बड़ा हे। लूडर्स की तालिका में 159 ब्राह्मी लेख हैं जिनमें 87 जैनधर्म के हैं, 55 बौद्ध धर्म के तथा 17 अन्य के हैं। इन लेखों में उन स्त्रियों का भी उल्लेख है जो दानकर्ता, समर्पणकर्ता के रूप में प्रसिद्ध रहीं। उन्होंने धार्मिक परम्पराओं को सुरक्षित रखा, शायद यही कारण है कि आज भी जैनधर्म कमोवेशरूप में उसी प्रकार का है जैसे दो हजार वर्ष पहले था। इन्हीं स्त्रियों की सहभागिता से यह धर्म जीवित रहा जबकि समकालीन बौद्ध धर्म भारत से विलुप्त प्रायः हो गया है।

थल व जल मार्ग (यमुना द्वारा) दोनों से सम्बद्ध होने के कारण इसकी समृद्धि बहुत बढ़ी और श्रेष्ठियों ने धनार्जन के साथ अनेक धार्मिक कार्य सम्पन्न किये तथा अपनी रुचि के अनुसार देवस्थलों का निर्माण किया। जैन समाज ने इस दिशा में विशिष्ट योगदान दिया। कंकाली के प्रसिद्ध स्तूप के निर्माण की यही गौरवशाली पृष्ठभूमि थी। यह स्थल मथुरा नगर के पश्चिमी भाग में है। बी.एस.ए. कालेज व भूतेश्वर चौराहे के बीच है और भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण द्वारा संरक्षित भी है। डॉ. विन्सेन्ट स्मिथ ने इसे 500 फीट व 350 फीट चौड़ा बताया है। टीले पर वर्तमान में कंकाली देवी के मन्दिर के कारण इसे कंकाली टीला कहते हैं। इस स्तूप की अनेक विशेषताएँ निम्न प्रकार हैं–

1. जैनधर्म का यह प्राचीनतम तथाा एकमात्र स्तूप है जिसका शुभारम्भ ईसा से कुछ शताब्दियों पूर्व हो चुका था। इसके विकास के कई चरण दृष्टिगोचर होते हैं। उत्खनन से उपलब्ध पुरावशेष उसके उस युग को आलोकित करते हैं जब से मुनियों

व आचार्यों ने समृद्ध श्रद्धालुओं को प्रस्तर मण्डित व अलंकृत करने को प्रेरित किया। 2. कंकाली के पुरावशेष शुंग, शक, पल्हव, कुषाण, गुप्त तथा मध्यकाल के समाज के अध्ययन अनुशीलन के लिए दर्पण हैं। स्तूप से प्राप्त अवशेषों से ईसा पूर्व दूसरी शती से बारहवीं शती तक जैन मूर्ति कला के विकास का अध्ययन सुलभ है। अन्यत्र कहीं ऐसा क्रमिक विकास नहीं मिलता। वस्तुतः स्तूप तो कुषाण काल तक बना रहा। कालान्तर में समीपस्थ जिनालय या देवायातन निर्मित हुए, जिनमें मूर्तियाँ प्रतिष्ठित की गई हैं। 3. जैनधर्म संगठन तथा सामाजिक संरचना के दिग्दर्शन के लिए तो यह अप्रतिम स्मारक है। स्तूप से प्राप्त मूर्ति अभिलेख तत्कालीन समाज और विशेषरूप से जैन संगठन के अनुशीलन के लिए अति महत्त्वपूर्ण है। प्राचीन वस्तु संरचना के स्वरूप को समझने के लिए कंकाली के जैन स्तूप का विशिष्ट स्थान है। भारतीय मूर्ति शिल्प, कला, सौन्दर्य, शोभा, प्रतीक, कंकाल चिह्न आदि का अनुलेखन विलक्षण है। रायपसेणिय का वर्णन स्तूप की रचना व वैभव से बहुत मिलता है। 4. जैन मूर्तियों के आरम्भ व विकास के लिए इस स्तूप के अतिरिक्त अन्य कोई केन्द्र रहा ही नहीं, क्योंकि प्रतीक आयागपट्ट, जिन आकृतियों का उद्भव, उनका क्रमिक विकास, व्यूह स्वरूप, विशाल जिन प्रतिमाओं का श्रीगणेश ये सभी सोपान यहाँ हस्तामलकवत् दर्शनीय हैं। 5. तीर्थंकर सुपार्श्व या पार्श्वनाथ जी को विशेष महत्त्व देकर पूजा का आधार बनाना मथुरा की प्रतिष्ठित नाग संस्कृति के साथ समन्वय का रहस्य प्रतीत होता है। इसका निश्चित काल निर्धारण करना कठिन है। इस महत्त्वपूर्ण घटना को समन्वय या स्याद्वाद का सूत्रपात मानें या व्यवहार स्तर पर पुष्टि, इस पर विद्वानों को मनन करना है। 6. समन्वय के प्रयोग से जहाँ उपदेशों के प्रचार से सफलता मिली वहीं कभी-कभी विरोध स्वर भी गूंजे और अन्य मतावलम्बियों ने स्तूप पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने का प्रयास किया। 7. जैन स्तूप के मूर्तिलेखों का कई दृष्टियों से महत्त्व है। समाज, धर्म, आचार, साहित्य, भाषा लिपि, कला, कालगणना, संवत्सर-विवेचन अनेक विद्याओं के अध्ययन व शोध की प्रेरणा इनसे मिलती है। 8. सरस्वती आन्दोलन, माथुरी वाचना, सरस्वती मूर्ति, चैत्य, स्तूप सभी प्राचीन काल से चली आ रही ज्ञानाग्नि में आहुतियों के विभेद हैं। 9. देवनिर्मित स्तूप व उस पर शुक्ल पताका फहराना कुछ ऐसी गुत्थियाँ हैं, जिन पर और अधिक प्रकाश अपेक्षित है। स्तूप जो काल गति से टीले के रूप में परिवर्तित हो चुका था, उसका उत्खनन लखनऊ संग्रहालय के तत्कालीन अध्यक्ष डॉ फ्यूहर ने 1888-91 में किया और लगभग 800 मूर्तियाँ व वास्तु अवशेष लखनऊ संग्रहालय को भेजे। कुछ कलारत्न भारत व विदेशी संग्रहालयों में भी दिखाई पड़े। आवश्यकता है कि इस अद्भुत जैन स्मारक को उन्हें प्रकाश में लाया जाए विस्तृत सचित्र सूची-पत्र बने और स्थल की प्राक्तन कीर्ति पुनः स्थापित हो।

राजकीय संग्रहालय मथुरा में संग्रहीत कंकाली क्षेत्र से इतर अतिविशिष्ट जैन

कलाकृतियाँ निम्न प्रकार हैं :—

1. आयागपट्ट (48.3426) ये कुषाणकालीन आयागपट्ट का ऊपरी भाग है जिसमें मध्य में तीर्थंकर सुशोभित है। प्राप्त स्थान चौबिया पाड़ा, मथुरा। 2. अभिलिखित आयागपट्ट (क्यू-2) लवण शोमिका का वर्द्धमान पूजा से सम्बन्धित आयागपट्ट, मुकुन्द कुआ, होली गेट के बाहर, मथुरा। 3. ऋषभदेव (बी-4) ध्यानस्थ वासुदेव सम्वत 84 की खण्डित प्रतिमा, बलभद्र कुण्ड मथुरा। 4. कायोत्सर्ग ऋषभनाथ (12.268) कन्धे पर लहराती लटें मुख का भाव सुन्दर, गुप्त लिखि लेख, कटरा टीला, मथुरा तथा कटराटीले की ही 50.3545 शीश रहित संवत् 1825 की जिन मूर्ति। 5. अरहनाथ (18.1388) मीनमिथुन, गुप्त काल, ग्राम बजना, मथुरा। 6. पार्श्वनाथ (12.25) पूर्व मध्यकाल, बन्दी आनन्दी गाँव बल्देव मथुरा। 7. चन्द्रप्रभ (86.150) सिर रहित बैठी चन्द्रप्रभ की प्रतिमा जिसके नीचे अर्धचन्द्र का अंकन है मध्यकाल, महावन 1, चित्र 3। 8. 23 तीर्थंकरों युत शिलापट्ट (536) मध्य काल गुर्जरघाटी, मथुरा। 9. सर्वोतोभद्र (बी 72) कुषाणकाल इसे बीरभद्र के रूप में पूजा जाता था। महोली, मथुरा। 10. तीर्थंकर (बी 78) लाल प्रस्तर, कुषाण, भूतेश्वर टीला, मथुरा। 11. जिनमस्तक (बी 78) लाल प्रस्तर, कुषाण, भूतेश्वर टीला, मथुरा। 12. आदिनाथ (बी-76) बैठी प्रतिमा की श्वेत, मध्य काल, पोतरा कुण्ड, मथुरा। 13. तीर्थंकर सुपार्श्व/पार्श्व (बी 26) कंकाली चौबारा के बीच ग्राउस महोदय ने 6 फीट नीचे खेत से खोद कर पाया था। मध्य काल, मथुरा। 14. लघुकाय पटिया (सं. 1578) पर्वत पर वृक्ष पर एक तीर्थंकर विराजमान है। दम्पत्ति वृक्ष के नीचे बैठे हैं और बायें हाथ में एक बालक को पकड़े है। चरन चौकी के नीचे सात लघुकाय आकृतियाँ अंजलि मुद्रा में, मध्यकाल, कटरा, मथुरा। 15. नैगमेश (संख्या 909) कन्धे पर बच्चे, कुषाण काल, पानी खेड़ा, मथुरा। 16. जैन देवता नैगमेष (ई-4) सूप में बाल को लिये। ये अजमुख है। मनोहरपुरा, मथुरा, ग्राउस महोदय ने इसे प्राप्त किया था। 17. अम्बिका (डी-7) ऊपर बलराम श्रीकृष्ण के मध्य नेमिनाथ, नीचे खण्डित अम्बिका, मध्य काल, चौरासी के निकट ईटों के भट्टे से प्राप्त, मथुरा। 18. लघुकाय तीर्थंकर (डी-80) मध्य काल, सरस्वती कुण्ड, मथुरा। 19. ऋषभदेव (1260), कन्धे पर लटें मध्य काल, चौरासी, मथुरा। 20. सर्वतोभद्र प्रतिमा (577) आदिनाथ और सुपार्श्वनाथ ही शेष मध्य काल, गोपाल खेड़ा, मथुरा। 20. तीर्थंकर (बी-79) काले पत्थर, मध्य काल, मथुरा दिल्ली मार्ग सरस्वती कुण्ड, मथुरा। 21. जिनकायोत्सर्ग (सं. 972, कुषाण, ब्राह्मी में लेख) बगीची ईसानपुर, मथुरा। 22. पार्श्वनाथ (सं. 18. 1505) मध्यकाल, कोसीकलां, छाता, मथुरा। 23. ऋषभनाथ (सं. 18. 1504) मध्यकाल, बरसाना, मथुरा। 24. पार्श्वनाथ (सं. 33.2874) मध्यकाल, कगारौल, आगरा। 25. ऋषभनाथ (सं. 1207) वृक्ष के नीचे ध्यानस्थ, मध्यकाल, मथुरा। ❖❖

हस्तिनापुर

अयोध्या के समान हस्तिनापुर भी अत्यन्त प्राचीन तीर्थ है। जिस प्रकार, जैन अनुश्रुति के अनुसार अयोध्या की रचना[1] देवों ने की थी, इसी प्रकार युग के प्रारम्भ में हस्तिनापुर की रचना भी[2] देवों द्वारा की गयी थी। अयोध्या में पाँच तीर्थंकरों के 18 कल्याणक देवों और मनुष्यों ने मनाये जबकि हस्तिनापुर में तीन तीर्थंकरों के 12 कल्याणकों की पूजा और उत्सव मनाया गया। यहाँ सोलहवें तीर्थंकर शान्तिनाथ, सत्रहवें तीर्थंकर कुन्थुनाथ और अठारहवें तीर्थंकर अरनाथ का जन्म हुआ था।

इन तीर्थंकरों के जन्म के सम्बन्ध में प्रसिद्ध ग्रन्थ 'तिलोयपण्णत्ति' में विस्तार से उल्लेख[3] है। तीनों तीर्थंकरों ने हस्तिनापुर के ही सहस्राम वन में या सहेतुक वन में दीक्षा ली और वहीं उन्हें केवल ज्ञान उत्पन्न हुआ। इस प्रकार यहाँ पर तीन तीर्थंकरों के गर्भ, जन्म, दीक्षा और केवल ज्ञान इस प्रकार चार कल्याणक अर्थात् कुल 12 कल्याणक मनाये गये। अतः तीर्थंकरों की कल्याणक भूमि होने के कारण यह नगरी इतिहासातीत काल से तीर्थ क्षेत्र के रूप में मान्य रही है।

इनके अतिरिक्त भगवान् आदिनाथ का धर्म-विहार जिन देशों में हुआ, उनमें कुरुदेश[4] भी था। हस्तिनापुर कुरुदेश की राजधानी थी। अतः यहाँ कई बार भगवान् का समवसरण आया था। उन्नीसवें तीर्थंकर भगवान् मल्लिनाथ का भी समवसरण यहाँ आया था।[5] यहाँ तेईसवें तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ दीक्षा के बाद पधारे थे और वरदत्त के घर पारणा की थी। वे केवलज्ञान के बाद भी यहाँ पधारे थे।

यहाँ के राजा स्वयम्भू भगवान् पार्श्वनाथ को केवल ज्ञान प्राप्त होने पर अहिच्छेत्र गए थे और उनका उपदेश सुनकर मुनि-दीक्षा धारण कर ली थी। वही भगवान् के प्रथम गणधर बने। उनकी पुत्री प्रभावती भगवान की प्रधान आर्यिका हुई।[6] भगवान् महावीर स्वामी भी यहाँ पर पधारे थे। पुराण शास्त्रों में महावीर भगवान् के पावन विहार का जो प्रामाणिक विवरण मिलता है, उसमें कुरुदेश या कुरुजांगल देश भी है। आचार्य जिनसेन (हरिवंश पुराण 313-7) ने तो स्पष्ट लिखा है कि इन देशों को भगवान ने धर्म से युक्त बना दिया जिसका अर्थ है कि भगवान के विहार और उनके उपदेश के कारण उस प्रदेश में भगवान् के धर्म को मानने वाले व्यक्तियों की संख्या प्रचुर थी। एक प्रकार से सम्पूर्ण कुरु प्रदेश ही भगवान् का भक्त बना गया था।

पौराणिक और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि :– हस्तिनापुर की गणना भारत के प्राचीनतम ऐतिहासिक और सांस्कृतिक नगरों में की जाती है। मानव-विकास के आदिकाल से ही यह राजनीतिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक घटनाओं की लीलाभूमि रहा है। आदितीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव ने 52 आर्य देशों की स्थापना की थी। उनमें कुरुजांगल देश भी था। इस प्रदेश की राजधानी का नाम गजपुर था। सम्भवतः इस प्रदेश के गंगा-तटवर्ती जंगल में हाथियों का बाहुल्य होने के कारण यह गजपुर कहलाने लगा। पश्चात् कुरुवंश में 'हस्तिन्' नाम का एक प्रतापी राजा हुआ। उसके नाम पर इसका नाम हस्तिनापुर हो गया। प्राचीन साहित्य में इस नगर के कई नाम आते हैं। जैसे– गजपुर[7], हस्तिनापुर, गजसाहव्यपुर[8], नागपुर[9], आसन्दीवत, ब्रह्मस्थल[10], शान्तिनगर, कुंजरपुर[11] आदि।

अक्षय तृतीया प्रारम्भ :– यहाँ सबसे प्रथम और सर्वविश्रुत घटना भगवान् ऋषभदेव के लिए राजकुमार श्रेयांसकुमार द्वारा दिये गये आहार-दान की घटित हुई, जिसने सारे जगत् का ध्यान इस नगर की ओर आकर्षित कर दिया। भगवान् ऋषभदेव मुनि-दीक्षा लेने के पश्चात् छह माह के उपवास की प्रतिज्ञा लेकर ध्यान में लीन हो गये। अपने व्रत की समाप्ति के पश्चात् वे आहार के लिए निकले किन्तु मुनिजनोचित आहार-विधि का ज्ञान न होने के कारण कोई उन्हें आहार नहीं दे सका। इस प्रकार भगवान् को 6 माह 13 दिन तक और निराहार रहना पड़ा। जब भगवान् प्रयाग से विहार करते हुए हस्तिनापुर पधारे तो बाहुबली के पुत्र हस्तिनापुर-नरेश सोम प्रभ के लघुभ्राता श्रेयांस ने उन्हें अपने महल की छत से देखा। देखते ही उसे पूर्व जन्म में दिये हुए आहार-दान की विधि का स्मरण हो गया। वह नीचे आया और भगवान् को भक्तिपूर्वक पड़गाहा और महलों में ले जाकर उन्हें इक्षु रस का शुद्ध आहार दिया। यह पुण्य दिवस वैशाख शुक्ला तृतीया था। भगवान् के इस सर्वप्रथम आहार के कारण हस्तिनापुर को महानता प्राप्त हो गयी। यह पवित्र दिन अक्षय तृतीया के नाम से एक पर्व के रूप में प्रसिद्ध हो गया। श्रेयांस को दान के प्रथम प्रवर्तक के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। उसने आहारदान वाले स्थान पर एक रत्नमय स्तूप का निर्माण कराया। संसार में दान देने की प्रथा इस आहारदान के बाद ही प्रचलित हुई।

वंश परम्परा और चक्रवर्ती :– सोमप्रभ[12] और श्रेयांस दोनों बाहुबली के पुत्र थे। भगवान् ऋषभदेव ने जब अपने सौ पुत्रों को राज्य दिये तो बाहुबली को पोदनपुर और हस्तिनापुर के राज्य मिले। पोदनपुर में वे स्वयं रहे और हस्तिनापुर में उनका पुत्र सोमप्रभ[13] या सोमयश। इसी से चन्द्रवंश चला। इसका दूसरा नाम कुरु भी था। कुरुवंश भी इसी के कारण प्रख्यात हुआ। इक्षुरस का आहार लेने के कारण भगवान् इक्ष्वाकु कहलाये और उनका वंश इक्ष्वाकु वंश।

अनन्तर सोमप्रभ के पुत्र मेघेश्वर जयकुमार और उनकी सुन्दर पत्नी सुलोचना ने

हस्तिनापुर को आकर्षण का केन्द्र बना दिया। जयकुमार प्रथम चक्रवर्ती भरत के प्रधान सेनापति थे और सुलोचना काशी नरेश अकम्पन की पुत्री थी। अकम्पन से ही नाथवंश[14] चला था और भगवान् ऋषभदेव ने इन्हें महामण्डलेश्वर बनाया था। काशी में सुलोचना का स्वयंवर किया गया। सुलोचना ने जयकुमार के गले में वरमाला डालकर उन्हें पतिरूप में स्वीकार कर लिया। भारत में यहीं से स्वयंवर प्रथा का सूत्रपात हुआ।

सुलोचना के सतीत्व और शील के चमत्कारपूर्ण प्रभाव का वर्णन जैन वाङ्मय में किया गया है। विवाह के पश्चात् जब गंगा किनारे-किनारे जयकुमार सुलोचना को लेकर सेना सहित जा रहा था, उस समय एक घटना घटी। जयकुमार ने गंगा पार करने के लिए हाथी को गंगा में प्रवेश कराया। जब हाथी सरयू और गंगा के संगम पर पहुँचा तो पूर्व जन्म की वैरी काली देवी ने मगर का रूप धारण कर हाथी को पकड़ लिया। उस समय सुलोचना ने भक्ति भाव से णमोकार मन्त्र पढ़ा। उसकी भक्ति से प्रसन्न होकर देवी ने आकर उनकी प्राण-रक्षा[15] की।

इसके पश्चात् तो हस्तिनापुर में बड़े-बड़े महापुरुष होते रहे और लोक पर प्रभाव डालने वाली घटनाओं का ताँता लगा रहा। भगवान् धर्मनाथ और शान्तिनाथ के अन्तराल में हुए चौथे चक्रवर्ती सनत्कुमार ने इसे अपनी राजधानी बनाया। सोलहवें, सत्रहवें और अठारहवें तीर्थंकर भगवान् शान्तिनाथ, भगवान् कुन्थुनाथ और भगवान् अरहनाथ यहीं पर उत्पन्न हुए। भगवान् ऋषभदेव से भगवान् महावीर तक के काल मे जो बारह चक्रवर्ती हुए हैं, उनमें पाँचवें, छठे और सातवें चक्रवर्ती ये ही तीनों तीर्थंकर थे। इन तीनों ने ही भरत क्षेत्र के छहों खण्डों को विजय करके एकछत्र साम्राज्य की स्थापना की और हस्तिनापुर को सम्पूर्ण भरत क्षेत्र का राजनीतिक केन्द्र बनाया। तीनों तीर्थंकरों के नाम पर यहाँ पश्चात्वर्ती काल में एक-एक स्तूप का भी निर्माण हुआ। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस नगर को यह महान् गौरव प्राप्त हुआ कि यहाँ तीन तीर्थंकर और चार चक्रवर्ती हुए। इस दृष्टि से हस्तिनापुर को अयोध्या के पश्चात् दूसरा स्थान प्राप्त है।

जैन पुराणों में हस्तिनापुर से सम्बन्ध रखनेवाली अन्य कई कथाएँ मिलती हैं :–

- भगवान् मुनिसुव्रतनाथ के समय नागपुर (हस्तिनापुर) का राजा बहुवाहन था। उसकी पुत्री मनोहरा थी। उसका विवाह साकेतपुरी के राजा विजय के पुत्र वज्रबाहु के साथ हुआ। विवाह के बाद जब वह अपनी पत्नी को लेकर जा रहा था, तब वसन्तगिरि पर एक ध्यानस्थ मुनि को देखा, उनका उपदेश सुना। सुनकर बहुत प्रभावित हुआ और उसने 26 अन्य राजकुमारों के साथ मुनिराज से मुनिदीक्षा[16] ले ली।
- भगवान् मुनिसुव्रतनाथ के ही समय में हस्तिनापुर में गंगदत्त श्रेष्ठी था। उसके पास सात करोड़ स्वर्ण मुद्राएँ थीं। एक बार भगवान् हस्तिनापुर पधारे। श्रेष्ठी ने भगवान् का उपदेश सुना। उसके मन में वैराग्य उत्पन्न हो गया। उसने भगवान् के पास ही मुनिव्रत[17] अंगीकार कर लिए और तपश्चरण में लीन हो गए।

● यहाँ गुरुदत्त नामक नरेश थे। यथासमय उन्हें संसार से वैराग्य हो गया। द्रोणीमती पर्वत की तलहटी में वे ध्यानारूढ़ थे। एक भील ने उनके ऊपर घोर उपसर्ग किया। उनके शरीर पर चिथड़े लपेटकर आग लगा दी। मुनि आत्मध्यान में लीन रहे। उन्हें केवलज्ञान हो गया और वहीं से मुक्त हुए।

700 मुनियों का उपसर्ग निवारण — रक्षाबन्धन पर्व प्रारम्भ :— उज्जयिनी नरेश श्रीधर्मा के चार मन्त्री थे— बलि, बृहस्पति, नमुचि और प्रहलाद। एक बार महामुनि अकम्पन सात सौ मुनियों के संघ के साथ आकर उज्जयिनी के बाह्य वन में विराजमान हुए। राजा श्रीधर्मा को मुनि संघ के आगमन का समाचार मिला तो वह उनके दर्शनों के लिए जाने लगा। जैन मुनियों से सहज द्वेश रखनेवाले मन्त्रियों ने महाराज को मुनियों के सम्बन्ध में यद्वा-तद्वा कहकर रोकना चाहा फिर भी वह दर्शनार्थ चला गया। मन्त्रियों को भी साथ में जाना पड़ा। आचार्य महाराज ने मुनिसंघ को मौन रखने का आदेश दे रखा था। जब राजा दर्शन करके लौटा तो मार्ग में श्रुतसागर नामक मुनि नगर से आते हुए मिले। मन्त्रियों ने उनसे अनावश्यक विवाद छेड़ दिया। मुनि श्रुतसागर को गुरु की आज्ञा का पता नहीं था। उन्होंने वाद-विवाद में मन्त्रियों को निरुत्तर कर दिया। फलतः उसी दिन रात्रि में गुरु की आज्ञा से मुनि श्रुतसागर उसी स्थान पर आये और प्रतिमा-योग धारण कर बैठ गये। मन्त्री अपनी पराजय के कारण बहुत क्रोधित थे। अतः वे उक्त मुनि को मारने के लिए रात्रि में आये और उन्होंने मुनि पर तलवार से जैसे ही वार करना चाहा कि वनदेवता ने उन्हें कीलित कर दिया। प्रातःकाल होने पर राजा को समाचार मिला तो राजा ने मन्त्रियों को अपमानित कर राज्य से निकाल दिया। चारों मन्त्री घूमते-फिरते हस्तिनापुर पहुँचे। वहाँ के कुरुवंशी राजा पद्म ने उन्हें अपना मन्त्री बना लिया। एक बार मन्त्रियों की युक्ति से राजा ने अपने शत्रु सिंहबल राजा को पकड़ लिया। राजा ने प्रसन्न होकर बलि से कहा— मैं तुमसे बहुत प्रसन्न हूँ, कोई वर माँग लो। बलि ने सोचकर कहा— अभी आवश्यकता नहीं है। जब आवश्यकता होगी, तब माँग लूँगा। किसी समय विहार करते हुए अकम्पनाचार्य मुनि संघ के साथ हस्तिनापुर पधारे और वहीं वर्षायोग धारण करके नगर के बाहर विराजमान हो गये। तब बलि ने अन्य मन्त्रियों से सलाह करके राजा पद्म से निवेदन किया— महाराज, आपने मुझे जो वर दिया था, मैं उसके फलस्वरूप सात दिन का राज्य चाहता हूँ। राजा ने स्वीकार करके उसे सात दिन के लिए राज्य सौंप दिया और स्वयं महल में रहने लगा। बलि ने राज्य प्राप्त करके मुनिसंघ पर घोर उपसर्ग किया। तब सभी मुनियों ने नियम ले लिया कि यदि उपसर्ग दूर होगा तो आहार-विहार करेंगे, अन्यथा नहीं करेंगे और वे ध्यानस्थ हो गये। उस समय राजा पद्म के छोटे भाई विष्णुकुमार मुनि बनकर घोर तपस्या कर रहे थे। उन्हें विक्रिया आदि कई ऋद्धियाँ प्राप्त हो चुकी थीं। उनके गुरु मुनि श्रुतसागर उस समय मिथिला नगरी में विराजमान थे। निमित्तज्ञान से उन्हें इस उपसर्ग का हाल मालूम हो गया। उनके मुख से अकस्मात् ये शब्द निकले—

आज मुनिसंघ पर दारुण उपसर्ग हो रहा है। उस समय उनके पास पुष्पदन्त नामक एक क्षुल्लक बैठे हुए थे। उनके पूछने पर गुरु ने बताया– इस उपसर्ग को केवल विष्णुकुमार मुनि दूर कर सकते हैं। उन्हें विक्रिया ऋद्धि प्राप्त हो गयी है, इसका ज्ञान ही नहीं था। उन्होंने परीक्षा की, तब विश्वास हुआ। वे तत्काल हस्तिनापुर पहुँचे और राजा पद्म से मिले। जब राजा से वरदान की बात ज्ञात हुई तो मुनि विष्णुकुमार वामन ब्राह्मण का रूप धारण कर बलि के पास यज्ञ-मण्डप में पहुँचे। बलि ने कहा– महाराज! आपकी जो इच्छा हो, माँग लीजिए। वामन रूपधारी विष्णुकुमार बोले– मुझे कुछ भी इच्छा नहीं है किन्तु आपका आग्रह ही है तो मुझे रहने के लिए तीन पग धरती दे दीजिए। बलि ने जल लेकर संकल्प किया और कहा कि आप अपने पाँवों से नाप लीजिए। विष्णुकुमार ने अपना शरीर बढ़ाया। उन्होंने एक पग सुमेरु पर्वत पर रखा, दूसरा मानुषोत्तर पर्वत पर तीसरे पग के लिए स्थान ही नहीं बचा, कहाँ रखें। बलि भय के मारे विष्णुकुमार के चरणों में गिर पड़ा और उसने दीनतापूर्वक अपने अपराध की क्षमा माँगी, इसप्रकार उपसर्ग दूर हुआ। सब लोगों ने अकम्पनाचार्य आदि सात सौ मुनियों की पूजा की। विष्णुकुमार ने अपने गुरु के पास जाकर प्रायश्चित्त लिया और घोर तपस्या करके निर्वाण प्राप्त किया। इस घटना की स्मृतिस्वरूप रक्षा-बन्धन का महान् पर्व प्रचलित हो गया जो श्रावण शुक्ल पूर्णिमा को उल्लासपूर्वक मनाया जाता है।

कौरव पाण्डव इतिहास :– यहीं पर कौरव और पाण्डव हुए थे और राज्य के प्रश्न पर दोनों में महाभारत नामक प्रसिद्ध युद्ध भी हुआ था। वरनावत नामक वह स्थान जहाँ दुर्योधन ने लाख के घर (लाक्षागृह) में पाण्डवों को जलाने की योजना बनाई थी, इसके पास ही है। इस युद्ध से पूर्व पाण्डवों ने कृष्ण के द्वारा कौरवों से बागपत, तिलपत, इन्द्रप्रस्थ, पानीपत और सोनीपत इन पाँच गाँवों की माँग की थी। जैन श्रुति के अनुसार पाँचों पाण्डवों ने अन्तिम समय में जिन दीक्षा ग्रहण की। उन्होंने शत्रुंजय पर्वत पर कठोर तपस्या की और समता भाव से घनघोर उपसर्ग सहन करते हुए युधिष्ठर, भीम, अर्जुन ने निर्वाण प्राप्त किया एवं नकुल, सहदेव सर्वार्थ सिद्धि नामक विमान में देव हुए।

एक बार मुनि दमदत्त हस्तिनापुर पधारे और उद्यान में ठहर गये। कौरव उधर से निकले। उन्होंने अपनी दुष्ट प्रकृति के कारण मुनि को देखकर उनकी निन्दा की और उनपर पत्थर बरसाये। फिर थोड़ी देर बाद पाण्डव आये। उन्होंने मुनि की चरण वन्दना की, स्तुति की और पत्थर हटाये। मुनि ध्यानलीन थे। उन्हें उसी समय केवल ज्ञान हो गया। देवों ने आकर उत्सव मनाया।

पाण्डवों के बाद कुछ समय तक यहाँ नागजाति का आधिपत्य हो गया। अर्जुन के पौत्र परीक्षित् की मृत्यु इन्हीं नागों के हाथों हुई थी। तक्षशिला इनका प्रधान केन्द्र था। तक्षक इनका प्रधान था। पंजाब तथा पश्चिमोत्तर भारत में नागजाति का बहुत जोर था। इन्होंने उधर से आकर और परीक्षित् को मारकर कुछ समय के लिए

तक्षशिला से शूरसेन प्रदेश तक अधिकार कर लिया। परिक्षित् के पुत्र जनमेजय ने इनके साथ सतत् युद्ध करके इन्हें परास्त किया और पंजाब के आगे तक खदेड़ दिया तो भी हस्तिनापुर में नागों के आक्रमण बराबर होते रहे।[18]

नाग लोग अपनी सुन्दरता के लिए बहुत प्रसिद्ध थे। नागकन्याओं की तुलना अप्सराओं से की जाती थी। प्राचीन साहित्य में ऐसे स्थल अनेक बार आये हैं। आर्य लोगों के साथ नागकन्याओं के विवाह भी होते थे। अर्जुन ने नागकन्या उलूपी के साथ विवाह किया था। हिन्दू पुराणों में नाग जाति के प्रभुत्व का विस्तृत विवरण मिलता है और विदिशा, कान्तिपुरी, मथुरा और पद्मावती (नरवर के पास पदमवाया) को उनकी राजधानियाँ बताया है। ये नागजाति के शक्ति-केन्द्र थे।

नागजाति का अपना जातीय चिह्न 'नाग' था। मथुरा आदि कई स्थानों पर सिक्के प्राप्त हुए हैं, जिनमें नाग नामान्तक कुछ राजाओं का परिचय मिलता है। भारशिव नरेश पद्मावती के नागवंश के थे। तीसरी-चौथी शताब्दी में इनका विस्तृत प्रदेश पर आधिपत्य था। तीर्थंकरों की मूर्तियों के दायें-बायें बहुधा फणधारी नाग लोग खड़े पाये जाते हैं। इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि नाग लोग जैन धर्म के अनुयायी रहे हैं। इन्हें वैदिक स्मृतियों में वेद-विरोधी व्रात्य कहा गया है।

नगर का विनाश और निर्माण :– परीक्षित् की पाँचवीं पीढ़ी में अधिसीम कृष्ण का पुत्र निचक्षु हुआ। इसके राज्य-काल में लालटिड्डियों[19] का भयानक प्रकोप हुआ, जिन्होंने सारी फसल को चट कर डाला। पेड़ों पर पत्ते तक न रहे। भीषण अकाल[20] पड़ा। तभी गंगा में भी भीषण बाढ़ आ गयी। उससे हस्तिनापुर का विनाश हो गया। इसके बाद गंगा इस नगर से पूर्व की ओर कई मील खिसक गयी। इससे नगर को जल मिलना भी दुर्लभ हो गया। फलतः निचक्षु ने यहाँ से अपनी राजधानी हटाकर प्रयाग के निकट कौशाम्बी[21] में बनायी। यह हस्तिनापुर नगर का प्रथम विनाश था। इसके पश्चात् यह नगर फिर बसा किन्तु कुरुवंश के स्थान पर इस पर नाग जति का आधिपत्य हो गया। सम्भवतः नाग जाति के आधिपत्य काल में ही भगवान् पार्श्वनाथ का समवसरण यहाँ आया था। भगवान् महावीर का भी समवसरण यहाँ आया और भगवान् के दिव्य उपदेशों को सुनकर वहाँ के राजा शिवराज ने जैनधर्म स्वीकार कर लिया था। भगवान् की स्मृति में यहाँ एक स्तूप का भी निर्माण किया गया था। यह बस्ती ईसा पूर्व 300 तक आबाद रही। फिर किसी भीषण अग्नि काण्ड के कारण नष्ट हो गयी। तीसरी बार जैन सम्राट् सम्प्रति ने इसे आबाद किया। यह सम्राट् अशोक का पौत्र था और जैनधर्म का अनुयायी था। इसने यहाँ अनेक जिनमन्दिरों का निर्माण कराया। यह बस्ती 200 ई. तक रही। इसके बाद यह बस्ती चौथी बार 10-11वीं शताब्दी में भारतवंशी राजा हरदत्तराय के समय बसायी गयी और 14वीं शताब्दी तक रही। हस्तिनापुर के वर्तमान मन्दिर के कुछ दूर जंगल में श्वेताम्बर निशियाँ के पास

से 1929 ई. में एक मनोज्ञ शान्तिनाथ तीर्थंकर की मूर्ति मिली उस मूर्ति पर सम्वत् 1231 लिखा है। यह मूर्ति प्राचीन बड़ा मन्दिर जी में विराजमान है।

सन् 1600 में हिन्दी जैन साहित्य के अमर कवि बनारसीदास ने हस्तिनापुर की सकुटुम्ब यात्रा की थी, इस प्रकार का विवरण उनके प्रसिद्ध आत्मचरित्र ग्रन्थ 'अर्धकथानक' में मिलता है। कविवर बनारसीदास शाहजहाँ बादशाह के समकालीन थे।[22] 'अर्धकथानक' से प्रतीत होता है कि बनारसीदास के समय यहाँ जैन यात्री तीर्थ यात्रा के लिए बराबर आते रहते थे। प्राचीनकाल में यहाँ स्तूपों के अतिरिक्त अनेक जैनमन्दिरों और निषधिकाओं (निंशिया) का भी निर्माण हुआ था। सम्भवतः उनका भाग्य भी नगर के विध्वंस और निर्माण के इतिहास से जुड़ा रहा।

जैनमन्दिर-निर्माण का इतिहास :– कई राजनीतिक और प्राकृतिक कारणों से हस्तिनापुर मध्यकाल के पश्चात् शताब्दियों तक उपेक्षित-सा रहा। इसी उपेक्षा के परिणामस्वरूप, लगता है, यहाँ प्राचीन मन्दिर और निषधिकाएँ नष्ट हो गयीं किन्तु तीर्थ स्थान तो यह बराबर बना रहा और भक्त लोग यात्रा के लिए आते रहे। 18-19वीं शताब्दी में यहाँ मन्दिर और निंशियों की हालत बड़ी जीर्ण-शीर्ण थी। सभी लोगों की इच्छा थी कि यहाँ मन्दिर अवश्य बनना चाहिए। लोगों की प्रार्थना पर सं. 1858 (सन् 1801) ज्येष्ठ वदी 13के मेले में मुगल बादशाह शाह आलम के खजांची राजा हरसुखराय ने मन्दिर-निर्माण के लिए अपनी स्वीकृति दे दी। यह इलाका उस समय बहसूमे के गूजर नरेश नैनसिंह के अधीन था। शाहपुर के गूजर यहाँ जैन मन्दिर निर्माण के अकारण विरोधी थे। राजा नैनसिंह के एक मित्र शाहपुर निवासी लाला जयकुमारमल थे। राजा हरसुखराय ने उनसे अनुरोध किया कि आप राजा नैनसिंह से कहकर यह कार्य करा दीजिए। उसी रात को लाला जी ने राजा साहब से इसकी चर्चा की और कहा कि राजा हरसुखराय ने इसके लिए भरी पंचायत में अपनी पगड़ी सबके समक्ष उतारकर रख दी है। राजा नैनसिंह राजा हरसुखराय के भी बड़े कृतज्ञ थे क्योंकि वे एक बार शाही खजाने के कर्ज के एक लाख रुपये समय पर अदा नहीं कर सके थे, जिसको राजा हरसुखराय ने स्वयं अदा किया था। बस, उन्होंने मन्दिर-निर्माण की स्वीकृति दे दी। इतना ही नहीं, लाला जयकुमारमल के अनुरोध पर उन्होंने मन्दिर का शिलान्यास भी अपने हाथों से स्वीकार कर लिया।

दूसरे दिन राजा हरसुखराय, लाला जयकुमारमल और सैकड़ों जैनाजैन व्यक्तियों की उपस्थिति में राजा नैनसिंह ने धरातल से चालीस फुट ऊँचे टीले पर दिगम्बर जैन मन्दिर की नींव में अपने हाथों से पाँच ईंटें रखीं। इसके बाद राजा हरसुखराय के धन से लाला जयकुमारमल की देखरेख में पाँच वर्ष में विशाल शिखरबन्द दिगम्बर जैन मन्दिर का निर्माण हुआ। कहते हैं, जब कलशारोहण और वेदी-प्रतिष्ठा का अवसर आया तो राजा हरसुखराय ने पंचायत से प्रार्थना की– पंच सरदारो! मेरी जितनी शक्ति थी,

मैंने उतना कर दिया। मन्दिर आप सबका है। अतः आप लोग भी इसके लिए सहायता करें। उस समय जो लोग वहाँ उपस्थित थे, उनके सामने एक घड़ा रखा गया और सबने अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार उस घड़े में दान डाला किन्तु फिर भी यह राशि अत्यन्त अल्प थी। मन्दिर के निमित्त सभी जैन भाइयों ने इस तरह रुपया एकत्रित करने में राजा साहब का उद्देश्य मन्दिर को सार्वजनिक बनाना और अपने को अहंभाव से दूर रखना था। तत्पश्चात् संवत् 1863 में कलशारोहण और वेदी-प्रतिष्ठान का कार्य राजा साहब ने समारोहपूर्वक कराया। उस समय मन्दिर में देहली से लायी हुई भगवान् पार्श्वनाथ की बिना फणवाली प्रतिमा विराजमान की गयी। वि. सं. 1897 में लाला जयकुमारमल ने मन्दिर का विशाल सिंह द्वार बनवाया। इस मन्दिर के चारों ओर धर्मशाला बनी है। मन्दिर के बाहर भी कई दिगम्बर जैन धर्मशालाएँ बनी हुई हैं। मन्दिर में बहुत-सा काम राजा हरसुखराय के पुत्र राजा सुगनचन्द ने कराया था। 1857 के गदर के समय गूजर लोगों ने इस मन्दिर को लूट लिया। वे लोग मूलनायक प्रतिमा को भी उठाकर ले गये। फलतः दिल्ली धर्मपुरा के नये मन्दिर से वि. संवत् 1548 में भट्टारक जिनचन्द्र द्वारा प्रतिष्ठित भगवान् शान्तिनाथ की मूर्ति यहाँ लाकर मूलनायक के रूप में विराजमान की गयी। तबसे यह मन्दिर शान्तिनाथ मन्दिर कहा जाने लगा। गदर के बाद भी एक बार फिर लुटेरों ने मन्दिर को लूटा। यह मन्दिर उस केन्द्रीय टीले पर बनाया गया था, जहाँ सम्भवतः पहले भी कोई जैन मन्दिर था।

सन्दर्भ सूची :–

1. आदिपुराण 12/70-77 **2.** वही, 16/152 **3.** तिलोयपण्णत्ति 4/541-43 **4.** आदिपुराण 25/287 **5.** विविध तीर्थकल्प, पृष्ठ 27 **6.** पासनाहचरिउ 15/12 **7.** विमलसूरि कृत पउमचरिउ 95-34 **8.** श्रीमद्भागवत 1-9-48 **9.** विमलसूरिकृत पउमचरिउ 6-71, 20-10 **10.** वही, 20-180 **11.** वही, 95-34 **12.** हरिवंशपुराण 13/16 **13.** आदिपुराण 16/258 **14.** वही, 16/260 **15.** आदिपुराण 45/142-150 **16.** विमलसूरिकृत पउमचरिउ 21-43

17. विविधतीर्थकल्प, पृष्ठ 27 **18.** णायकुमारचरिउ, भूमिका, पृष्ठ 31-32

19. भारतीय इतिहास की रूपरेखा, भाग 1, श्री जयचन्द विद्यालंकार, पृष्ठ 289

20. मटचीहतेषु कुरुष्वाटिक्या सह जाययोपस्तिर्ह चाक्रायण इभ्यग्रामे प्रद्राणक उवास।।1।।
–छान्दोग्य उपनिषद् अध्याय 1, खण्ड 10

–ओलों की वर्षा से अन्न का नाश होने पर कुरुदेश में अकाल पड़ जाने के कारण चक्र के पुत्र उपस्ति ने अपनी स्त्री आटिकी के साथ (अन्न न मिलने के कारण) मरणासन्न दशा में हाथीवनों के ग्राम में आकर आश्रय लिया।

21. अधिसीम कृष्णपुत्रों निचक्षुर्भविता नृपः। यो गंगायापहृते हस्तिनापुरे कौशाम्ब्यां विवत्स्यति।। रमेशचन्द्र मजूमदारकृत, प्राचीन भारत, पृ. 51।

• पार्जीटर –Ancient Indian Historical Tradition (1922), page 285

22. कविवर बनारसीदास –डॉ. रवीन्द्रकुमार जैन, पृष्ठ 112

❖❖

मथुरा के जैन शिलालेख

✍ डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन

राजनीतिक ही नहीं, धार्मिक और सांस्कृतिक इतिहास की दृष्टि से भी मथुरा पुरातत्त्व में उस स्थान से प्राप्त शिलालेख सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं। इन शिलालेखों के महत्त्व को लूडर्स, ब्लूलर, फ्लीट कनिंघम, भण्डारकर, रैप्सन, स्मिथ, फूहरर, स्टेन कोनो आदि अनेक प्रकाण्ड प्राच्यविदों ने मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया है। शक क्षत्रपों एवं कुषाण नरेशों का पूर्वापर, उनकी वंशावलियों तथा कालानुक्रमणिकाओं को निश्चित करने का मथुरा के शिलालेखों के अतिरिक्त अन्य कोई साधन नहीं है। शक संवत् की प्रथम शताब्दी के लिए जैसी तिथियुक्त अभिलेखों की शृंखला यहाँ प्राप्त हुई है, वैसी उस तथा अन्य किसी युग के लिए अन्यत्र कहीं भी उपलब्ध नहीं है। राजाओं के नाम, उनकी उपाधियाँ, कालक्रम, शिलालेखन की प्रणाली, भाषा, लिपि, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक लोक-दशा आदि के अध्ययन के लिए ये शिलालेख अद्वितीय साधन सिद्ध हुए हैं। यद्यपि मथुरा नगर एवं प्रदेश से तथा दो-तीन शताब्दियों से ही उनका विशेष तथा अधिक सम्बन्ध है, तथापि उक्त प्रदेश एवं युग के द्वार से ही वे सामान्यतया प्राचीन भारतीय इतिहास के उपर्युक्त विभिन्न अंगों के लिए दीपस्तम्भ का कार्य करते हैं। जैन, बौद्ध एवं ब्राह्मण (शैव, वैष्णवादि)– तीनों प्रमुख भारतीय धर्मों की उस काल में उत्तर भारत में कैसी स्थिति थी, किन-किन दिशाओं में उनका विकास हो रहा था, लोक-जीवन में उनमें से प्रत्येक का कितना क्या योग अथवा प्रभाव था और उनके तीनों के पारस्परिक सम्बन्ध कैसे थे, इत्यादि तथ्यों पर अभूतपूर्व प्रकाश पड़ता है और जैनधर्म एवं जैनसंघ के इतिहास की तो एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कड़ी इन अभिलेखों में प्राप्त होती है।

मथुरा नगर के विभिन्न स्थानों एवं उसके आस-पास के प्रदेश से अब तक प्राप्त हुए शिलालेखों की संख्या अढ़ाई सौ से ऊपर है। इनमें से अधिकांश एपीग्राफिया इण्डिका तथा अन्य विभिन्न शोध-पत्रिकाओं एवं सन्दर्भ ग्रन्थों में प्रकाशित हो चुके हैं। अनेक का मात्र विवरण सूचित किया गया है, सम्पादित पाठ नहीं प्रकाशित हुआ है। किसी एक ही स्थान (ग्रन्थ) में ये शिलालेख अभी तक प्राप्त नहीं हैं।

प्राप्त शिलालेखों में से 8 का सम्बन्ध हिन्दूधर्म के साथ किया जा सकता है जिनमें से 1 यज्ञयूप से, 1 पंचवृष्णिवीर पूजा से, 1 माहेश्वर सम्प्रदाय से, 1 शैवों से और 4 वैष्णवों से सम्बन्धित हैं। दो शिलालेख नागपूजा से और एक यक्षपूजा से सम्बन्धित है। लगभग 30 अभिलेख ऐसे संक्षिप्त, त्रुटित एवं खण्डित हैं कि उनका सम्बन्ध किसी भी धर्म विशेष के साथ निश्चित करना कठिन है। इन्हीं में पाँच-छः तो राजकीय प्रतीत होते हैं जो कुषाण राजाओं आदि की मूर्तियों आदि पर पाये गये हैं, किन्तु यह कार्य धर्मनिरपेक्ष रूप में किये गये प्रतीत होते हैं। 63 शिलालेख बौद्धधर्म से सम्बन्धित हैं और 153 जैनधर्म से सम्बन्धित हैं।

इन अभिलेखों की सबसे अधिक संख्या एकत्र केवल लूडर्स की 'ब्राह्मी शिलालेखों की सूची' (एपी. इण्डि., भाग 10) में उपलब्ध होती है। उस सूची में उपर्युक्त डेढ़ सौ से अधिक जैन शिलालेखों में से केवल 80 के लगभग प्राप्त होते हैं। माणिकचन्द्र जैन ग्रन्थमाला से प्रकाशित जैन शिलालेख संग्रह, भाग 2 में, सम्भवतया इसी सूची के आधार से मथुरा के 85 लेखों को प्रकाशित किया गया है और उसी संग्रह के भाग 3 की भूमिका में डॉ. गुलाबचन्द्र चौधरी ने मथुरा के इन जैन शिलालेखों पर भी विवेचन प्रस्तुत किया है और उनमें उल्लिखित गण, शाखा, कुल आदि तथा कतिपय साधुओं के सम्बन्ध में ऊहापोह किया है।

उपर्युक्त लगभग डेढ़ सौ जैन शिलालेखों में तीन या चार कुछ सन्दिग्ध कोटि के हैं, शेष निश्चिततया जैन हैं, उनमें भी 85 अभिलेख तिथियुक्त हैं। कालक्रम की दृष्टि से इनमें से 28 मौर्यकाल के अन्तिम दशकों से लेकर शककाल के प्रारम्भ से पूर्व (लगभग ईसापूर्व 225-50) तक के अनुमानित हैं, 23 शकक्षत्रप युग (लगभग ईसापूर्व 50-ईस्वी सन् 75) तक के हैं, 90 के लगभग कुषाण शासनकाल (लगभग 75-300 ई.) के हैं, 2 गुप्तकाल (ल. 300-600 ई.) के, 8 पूर्वमध्यकाल (ल. 600-1200 ई.) के और 1 मध्यकाल (1200-1800 ई.) का है।

इस सम्बन्ध में यह भी स्मरणीय है कि मथुरा और उसके आस-पास आगरा आदि में दर्जनों मध्यकालीन जैन मंदिर हैं। उनमें तथा उनके उपरान्त बने मन्दिरों में भी मुस्लिम शासनकाल (1200-1800 ई.) की अनेक लेखांकित जैन प्रतिमाएँ विद्यमान हैं। इन सब का पर्यवेक्षण करने से सम्भव है कि उनमें से कितनी ही मथुरा प्रदेश में ही प्रतिष्ठित हुई हों और कुछ पूर्वकाल की भी हों। तत्कलीन साहित्यिक आधारों से पता चलता है कि 14वीं शती में जिनप्रभ सूरि ने मथुरा तीर्थ की यात्रा की थी (देखिए–विविध तीर्थ कल्प)। उसी काल में ग्वालियर, बयाना, चन्दवाड़, हथकन्त आदि में जैनों की बस्तियाँ और केन्द्र विद्यमान थे। मुगल सम्राट् अकबर के समय में आगरा के टोडर साहू नामक एक राजमान्य जैन सेठ ने मथुरा जाकर उस स्थान के प्राचीन 500 जैन स्तूपों का जीर्णोद्धार और समारोहपूर्वक जिन प्रतिष्ठोत्सव

कराया था (देखिए पाण्डे राजमल्लकृत सं. जम्बूचरित् तथा पाण्डे जिनदासकृत भाषा जम्बूस्वामि चरित्र)। इनसे विदित होता है कि मध्यकाल में मथुरा में जैनों की एक अच्छी बस्ती सम्भवतया निरन्तर बनी रही। कई तीर्थमालाओं से भी प्रकट है कि दूर-दूर से जैनीजन इस तीर्थ की वन्दना के लिए आते रहे। अतएव मथुरा प्रदेश के मन्दिरों में उस काल की प्रतिष्ठित जिन प्रतिमाएँ मिलने की पर्याप्त सम्भावना है। गुप्तकाल के उपरान्त भी लगभग चार शताब्दियों तक कोई जैन शिलालेख यहाँ नहीं मिला है किन्तु साहित्यिक अनुश्रुतियों के अनुसार 8वीं-9वीं शती ई. में कान्यकुब्ज नरेश आमराज द्वारा उसके गुरु बप्पभट्टि सूरि ने मथुरा के प्राचीन स्तूप एवं मंदिरों का जीर्णोद्धार कराया था (देखिए– बप्पभट्टि सूरिचरित् – प्रभावकचरित)। विद्वानों में इस विषय में तो मतभेद है कि यह आमराज सम्राट् यशोवर्मन का पुत्र एवं उत्तराधिकारी था, अथवा कन्नौज का आयुधवंशी कोई राजा था, किन्तु बप्पभट्टिसूरि के अस्तित्व एवं समयादि में कोई सन्देह नहीं किया जाता (देखिए– आर.एस. त्रिपाठीकृत हिस्ट्री ऑफ कन्नौज तथा बी.एन. पुरी कृत गुर्जर प्रतिहाराज)। 9वीं शती के अन्त या 10वीं शती के प्रारम्भ के लगभग मथुरा में मुनि रामसेन द्वारा दिगम्बर आम्नाय के माथुरगच्छ की स्थापना हुई और 10वीं-11वीं शती में ही मथुरा में सर्वप्रथम दिगम्बर-श्वेताम्बर भेद लक्ष्य में आया और यहाँ दोनों सम्प्रदायों के मंदिर और मूर्तियाँ पृथक्-पृथक् बनने लगीं। इस काल के भी कुछ अन्य प्रतिमालेखादि मिलने की सम्भावना है। जहाँ तक मथुरा के अधुना प्राप्त अभिलेखों का प्रश्न है, उनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्राचीन मथुरा के (कम से कम ईसापूर्व 200 से सन् ई. 300 के मध्यवर्ती काल के) जैनीजन लेखन प्रवृत्ति एवं लेखन-कला में वहाँ सर्वाग्रणी थे। यही काल मथुरा के जैन-संघ का चरमोत्कर्ष काल था। समस्त प्राप्त शिलालेखों में दो तिहाई के लगभग जैन हैं और उनमें भी आधे के लगभग तिथियुक्त हैं, बौद्धादि अन्य सम्प्रदायों के यहाँ से प्राप्त शिलालेखों में उनके तिथियुक्त अभिलेखों का अनुपात भी इससे कम ही है।

प्राप्ति-स्थान की दृष्टि से लेखांकित जैन कृतियाँ अधिकांशतः कंकाली टीले से, जिसे जैन टीला भी कहते हैं, प्राप्त हुई हैं। उसके अतिरिक्त बलभद्रकुण्ड, माता का मठ (होली दरवाजा), जेलटीला, शीतलाघाटी, मुकुन्दकुआँ (होली दरवाजा) कटरा केशवदेव, चौरासी, चौबारा टीला, चौबियापाड़ा आदि मथुरा के कई अन्य विभिन्न स्थानों से भी प्राप्त हुई हैं। एक चतुर्मुखी जिन प्रतिमा चौमुहा (अकबरपुर) में मिली थी। मध्यकाल के एक अभिलेख में नवग्राम का तथा 18वीं शती के लेख में दीगनगर का नाम दिया है। कोसीकलाँ, सहपऊ आदि में भी अपेक्षाकृत पुराने जिन-मन्दिर एवं जैन बस्तियाँ हैं। लेखांकित कृतियों में ऋषभदेव (प्रथम तीर्थंकर), सम्भवनाथ (3रे), सुमतिनाथ (5वें), सुपार्श्वनाथ (7वें), अनन्तनाथ (14वें), मुनिसुव्रत (20वें), नेमिनाथ

(22वें), पार्श्वनाथ (23वें) और महावीर वर्द्धमान (24वें), तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ अनेक ऐसी अर्हत् प्रतिमाएँ, जिनमें नाम या लांछन नहीं सूचित हुआ, अनेक चरणचौकियाँ या पादपीठ (जिनप्रतिमाओं की), कई प्रतिमा सर्वतोभद्रिका (चतुर्मुखी), एक तीर्थंकर पट्ट (8 प्रतिमाओं से युक्त), एक शिलापट्ट जिसे 'वर्धमान पाटिया' लिखा है, कई आयागपट्ट, सरस्वती, आर्यावती, नेगमेश, नागेन्द्रदधिकर्ण, आर्य, वहन्न-अर्द्धफालक (खण्डवस्त्रधारी) वेष में, नान्दिविशाल (गजस्तम्भ), वेदिका सूची, प्रासादतोरण, तोरणखण्ड, प्रस्तरखण्ड आदि हैं।

इन कृतियों पर अंकित कुछ लेखों में पुष्करिणी, आराम, उद्यान, उद्पान, प्रपा, शिलापट्ट, आयागसभा, प्रासाद, देव या देवि-कुल, अर्हत्-चैत्य, अर्हतायतन या निर्ग्रन्थों का अर्हतायतन, विहार, देवनिर्मित वोद्वे स्तूप, आदि के निर्माण करने या उनमें जिनमूर्तियाँ प्रतिष्ठित करने, अथवा उनके लिए दानादि देने के भी उल्लेख पाये जाते हैं, किन्तु सामान्यतः इन अभिलेखों में उनमें उल्लिखित धार्मिक कृतियों से निर्माण, प्रतिष्ठा, दानादि का मूल उद्देश्य प्रायः 'सर्वसत्त्वानं हितसुखाय' (सभी प्राणियों के कल्याण एवं सुख के लिए) सूचित किया गया है। अनेक में केवल 'अर्हत पूजाय' या 'आर्हत चैत्यपूजाय' लिखा है। एक अभिलेख में 'चातुर्वर्णसंघ' के लिए यह धार्मिक कृत्य किया गया बताया है। जैन-परम्परा में मुनि, आर्यिका, श्रावक-श्राविका के समाज या संगठन को चतुर्विध संघ कहते हैं। सम्भव है इस कथन का संकेत उसी चतुर्विध संघ से हो। यह भी सम्भव है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र– चारों ही वर्णों के जिनधर्म भक्तों की ओर सामूहिक रूप से लेख का संकेत हो। इन लेखों से यह तो स्पष्ट ही है कि तत्कालीन मथुरा में सभी वर्णों और जातियों के स्त्री-पुरुष समानरूप से जैनधर्म के अनुयायी थे, यहाँ तक कि विदेशी-यूनानी, शक पह्लव, कुषाण आदि जातियों के भी अनेक व्यक्ति जैन थे। कुछ लेखों में 'बोधिलाभाय', 'धर्मोमहाभोगताय' जैसे पद भी उद्देश्य सूचनार्थ पाये जाते हैं, किन्तु जैसाकि अधिकांश लेखों से सूचित होता है, मथुरा के उन धर्मात्मा जैनों की भावना तो मूलतः 'सर्व सत्त्वानं हितसुखाय' ही थी, जीवमात्र का हित और सुख सम्पादन करने की उनकी भावना सक्रिय एवं सचेष्ट थी जिसके द्वारा उन्होंने स्वधर्म को सच्चे अर्थों में सार्व धर्म बनाने का सद्प्रयत्न किया था।

शिलालेखों के प्रारम्भ में कतिपय 'मंगल' पद होते हैं, यथा– 'सिद्धम्', 'नमो अरहंतानं', नमो अरहंतानाम् नमो सिद्धानं', 'सिद्ध नमोस्त्वर्हद्भ्यः', 'नमो अरहंतानं सव्वलोकुत्तमानं', 'नमो अर्हतो वर्धमानस', 'नमो अर्हतो महावीरस', 'णमो अरहंताणं' जैनों के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एवं परमपवित्र णवकार या पंचनमस्कार मन्त्र के प्रथम दो चरण हैं, उसके शेष तीन चरण – 'णमो आयरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं' हैं। उक्त मन्त्र के उपरान्त उसके माहात्म्य रूप में पढ़े जाने वाले पाठ

'अरहंत मंगलम्' आदि के द्वितीय अंश का प्रथम चरण है 'अरहंत लोगुत्तम'। जैन विश्वास के अनुसार 'णवकारमन्त्र' मूलमन्त्र है, अनादिनिधन है, किन्तु लिखित साहित्य में यह मन्त्र सर्वप्रथम पहली शती ई. के मध्य के लगभग संकलित एवं लिपिबद्ध दिगम्बर आम्नाय ने आगमग्रन्थ 'षट्खण्डागम' के मंगलाचरण के रूप में उपलब्ध होता है। मथुरा के ये शिलालेख उसकी प्राचीनता को इसके भी लगभग सौ-डेढ़ सौ वर्ष पूर्व तक पहुँचा देते हैं। खारवेल के हाथीगुम्फा अभिलेख (लगभग 150 ई.पू.) में भी मंगलाचरण के रूप में नमो अरहंतानं 'नमो सिद्धानं' पाठ प्राप्त होता है।

मंगलपद के उपरान्त अनेक लेखों में सं, सब, सवं, संवत्सर आदि वर्ष सूचक संकेत, तदनन्तर वर्ष संख्या, ऋतु का पूरा नाम अथवा प्रथमाक्षर, मासांक, दिवस या दि. शब्द और दिनांक प्राप्त होते हैं। अंकों में दहाई के अंक के उपरान्त दहाई सूचक शून्य रखकर इकाई का अंक लिखा जाता था, यथा 35 लिखना हुआ तो 305 लिखते थे 112 लिखना हुआ तो 100102 लिखते थे। शककालीन शिलालेखों की तिथियों में जो कि ई.पू. 66 के 'पूर्वदशक' संवत् में सूचित की गई प्रतीत होती है, प्रायः संवत्सर, संवत्सरे, सव या सवं शब्दों का प्रयोग हुआ है, जबकि कुषाणकालीन लेखों में मात्र 'स' या 'सं' का अथवा 'वर्षे' का प्रयोग अधिक मिलता है।

तिथि सूचन के पश्चात् 'एतस्य पूर्व्वाय', 'अस्या पूर्वाय', या 'अस्मिक्षुणे' जैसे शब्दों से लेख के प्राकृत विषय का प्रारम्भ होता है। पुराने शक आदि कालीन लेखों में 'अस्मिक्षुणे' का ही प्रयोग प्रायः मिलता है जबकि उपरान्तकाल-कुषाण आदि काल के लेखों में उसके स्थान पर 'एतस्यपूर्वाय' आदि का। इन्हीं पीछे के लेखों के अन्त में, कभी-कभी मध्य में भी, 'श्री गृह सम्भोग' या 'श्री गृहातो सम्भोगतो' पद प्राप्त होते हैं। लेख की समाप्ति सूचक इन शब्दों का आशय सम्भवतया 'जिनालय' या 'अर्हतायतन' के लिए 'उद्दिष्ट' है। ये दान बहुधा किसी साधु या साध्वी की प्रेरणा से किये जाते थे और इस तथ्य की सूचना उक्त गुरु या गुरुनी के नाम निर्देश के उपरान्त् प्रयुक्त 'निर्वर्त्तनात' शब्द से प्रायः की गई है जिसके अर्थ 'अनुरोधात्' या 'उपदेशात' किये गये हैं। एक लेख में इन्हीं अर्थों में 'परिग्रहे' शब्द प्रयुक्त हुआ है और एक गुप्तकालीन लेख में 'प्रज्ञापिताये' (आज्ञा से?)।

लगभग 30 शिलालेखों में तत्कालीन नरेशों के नाम भी प्राप्त होते हैं, जिनके अतिरिक्ति तीन-चार लेख ऐसे हैं जिनमें 'महाराज', 'राजातिराज' आदि शब्दों से किसी शासक का सूचन तो किया गया है, किन्तु उसका नाम या तो खण्डित हो गया अथवा लिखने से छूट गया है। ऐसे भी अनेक लेख हैं जिनमें राजा का नाम संकेत न होने पर भी उनमें दी हुई तिथियों के आधार पर या उनमें उल्लिखित गुरुओं या गृहस्थों के नामों के आधार पर तत्कालीन शासक को चीन्ह लेना कठिन नहीं है। शासकों का स्पष्ट नामोल्लेख करने वाले जो 30 जैन लेख हैं, उनमें से शक क्षत्रप

मेवकि का 1, शक महाक्षत्रप रज्जुवुल का 1, क्षत्रप शोडास के 2, कुषाण नरेश कनिष्ठ के 4, हुविष्क के 14, वासुदेव के 6, गुप्त सम्राट् कुमारगुप्त का 1, भरतपुर के जाट राजा केशरी सिंह (सूरजमल का पौत्र) का 1 हैं। शक क्षत्रपों के लिए 'महाराज महाक्षत्रप' या 'स्वामि महाक्षत्रप' उपाधियाँ प्रयुक्त हुई हैं और कुषाण नरेशों के लिए 'महाराज-राजातिराजदेवपुत्र-शाहि' उपाधि पूर्णतः या अंशतः प्रयुक्त हुई मिलती है। गुप्त सम्राट् के लिए 'परमभट्टारक महाराज श्री' और जाट राजा के लिए 'महाराज विशेषण' दिये गए हैं।

मथुरा के इन जैन शिलालेखों में जिन लगभग सवा सौ धर्म भक्त गृहस्थ पुरुषों (श्रावकों) का उल्लेख हुआ है उनके नाम निम्नप्रकार हैं – अमोघदत्त, अरितंजनय, इन्द्रपाल, उत्तरदासक, ओखरिक, कल, कलस, कुठ (कसुथ) कुमारभट्टि, खोट्टिमित्र, गिवसेन, गोप, गोशाल, गौप्तिपुत्र, गृहचेत, गृहदत्त, गृहदास, गृहमित्र, गृहसेन, गृहहस्ति, घृतकुण्डक, चांदका, चीरि, जय, जयदास, जयदेव, जयनाग, जयपाल, जयभट्टि, जयसिंह, जयनन्दि, जार, जोधराज, दत्त, दत्ति, दमित्र, दस (दशक), दातिल, दास, दित्र, देव, देवदास, देवसेन, देविल, धनहस्ति, धर्ममित्र, धर्मवृद्धि, नवहस्ति, नन्दिक, नन्दिघोष, नन्दिबल, पाल, पालघोष, पालित, पुष्पक, पोठघोष (प्रोरथघोष), पृथु, प्रवरक, प्रियदेव, फल्गुदेव, फल्गुयश, बल, बाधिशिव, बुद्धि, बुद्धिल, बुबु, बाधनन्दि, बन्धुक, ब्रह्म, भट्टदत्त, भट्टिदास, भट्टिभव, भट्टिमित्र, भट्टिसेन, भत्तिबल, भद्रनन्दि, भद्रपाल, भद्रयश, भवनक, मलहण, रितुनन्दि, राजपाल, राज्यबसु, रुद्रदास, लवाडस, मातिल, वज्रनन्दि, वरणहस्ति, वरुण, वर्मा, वाधर, विष्णुभव, वेणि, शिवघोष, शिवदत्त, शिवदास, शिवदेव, शंकर, श्रमनक, सनकदास, सर्वत्रात, सिह, सिंह, सिंहनन्दि, सिंहविष्णु, सुचित, सूर, सोमगुप्त, संघनिधि, हरबल।

इनमें से कई नाम ऐसे हैं जिनका शिलालेख में एकाधिक बार उल्लेख हुआ है। कई नाम, यथा ओखरिक, कुठ, चीरि, दमित्र, बुबु, लवाडस आदि स्पष्टतः विदेशी हैं जो तत्कालीन मथुरा के यवन, शक, पह्लव, कुषाण आदि विदेशी जातीय जैनों के प्रतीत होते हैं। कई एक वहाँ की तत्कालीन जैन कलाकृतियों में भी शकादि विदेशी स्त्री-पुरुषों के अपनी जातीय वेशभूषा में मूर्त्तागन मिले हैं। लेखों में उपर्युक्त जैन पुरुषों के नाम के साथ आर्य, श्रावक, श्रमणश्रावक, श्रमणोपासक आदि प्रतिष्ठा या धर्मसूचक विशेषण, मौदलि या मौद्‌गलिपुत्र गौप्तिपुत्र, कौत्सिकी, कौत्सि, वत्सी या वत्सीपुत्र, हारीतिपुत्र, शैवालक आदि वंश या गोत्र सूचक विशेषण और श्रेष्ठि, अनघश्रेष्ठि, हैरण्यक, मणिकार, सुवर्णिक, सार्थवाह, नापित, नर्त्तक, लोहवाणिय, लोहिककारुक, रायंगिनि, उगिभिनक, प्रतारिक, ग्रमिक, गोट्टिक, सनिक, कसुथ, भ्रतृक, गंजवर, गन्धिक, नादि, अभिसारक, वणिक आदि व्यवसाय सूचक विशेषण प्राप्त होते हैं। एक लेख में एक शेग्रव गोत्रीय ब्राह्मण का तथा 18वीं शती के लेख

में चौधरी विशेषणधारी एक पल्लीवाल सेठ का उल्लेख हुआ है। पिता, पुत्र, पौत्र, भ्राता आदि शब्दों से पुरुषों के पारस्परिक कौटुम्बिक सम्बन्ध सूचित किये गये हैं। गौप्ति, वत्सी आदि वंश सूचक विशेषण विवक्षित व्यक्तियों का अभिजात कुलोत्पन्न होना अथवा उनका राजन्यवर्ग के साथ सम्बन्ध रहना सूचित करते हैं। दर्जनों व्यवसाय सूचक शब्द तत्कालीन मथुरा की समृद्धि तथा उसकी आर्थिक औद्योगिक एवं व्यापारिक समुन्नति के परिचायक हैं। साथ ही उनसे यह भी स्पष्ट है कि कोई वर्ग या व्यवसाय किसी भी व्यक्ति के जैनी होने में बाधक नहीं था और तत्कालीन मथुरा का जैनधर्म वस्तुतः सार्ववर्णीय, सार्वजातीय एवं सार्ववर्गीय था। ये लेख इस बात का प्रमाण है कि उस काल में अब जैसी जाति-पाति नहीं थी। सभी वर्णों के व्यक्ति सभी व्यवसाय कर सकते थे और विभिन्न व्यवसाय करने वालों में परस्पर श्रेष्ठता या हीनता का कोई भाव नहीं था। वे सभी धर्मों के अनुयायी भी हो सकते थे। कम से कम उस काल का जैनधर्म किसी वर्ण, जाति, वर्ग या व्यवसाय में सीमित नहीं था। वर्तमान जैसी जातियाँ तो उस काल में बनी ही नहीं थीं। जातियों का उदय एवं विधिवत् जातीय संगठन या जाति व्यवस्था का प्रारम्भ तो पूर्व मध्यकाल लगभग नौवीं से बारहवीं शती के मध्य में हुआ अनुमान किया जाता है। इन लेखों के काल में जातियाँ नहीं थी, वर्ण व्यवस्था अवश्य रही प्रतीत होती है किन्तु वह भी कर्मतः अधिक थी जन्मतः बहुत कम। विभिन्न व्यवसायों के अपने-अपने व्यवस्थित संगठन भी थे, जो निगम, श्रेणी आदि कहलाते थे। व्यवसाय स्वेच्छानुसार परिवर्तित भी किए जा सकते थे, तथापि अनेक परिवारों में विशेष-विशेष व्यवसाय रूढ़ हो चले थे। यही प्रवृत्ति आगे चलकर जातियों की उत्पत्ति की मूलभित्ति बनी।

अभिलेखों में उपर्युक्त श्रावकों के अतिरिक्त सत्तर-पचहत्तर धर्म-प्राण महिलाओं का तथा उनके धर्म कार्यों का उल्लेख है। इन महिलाओं के नाम हैं– अचला, अमोहिनी, अवश्री, उज्झटिका, ओखारिका, कलहस्तिनी, कुमार मिश्रा, कुमारीश्री, गुल्हा, गृहपाला, गृहमित्रा, गृहश्री, जयदासी, जयदेवी, जया, जिनदासी, जीत मित्रा, जीवनादा या जीवनन्दा, दत्ता, दत्तागाली, दाति, दीना, धनमित्रा, धरावला, धर्मसोमा, धामघोषा या धर्मघोषा, नागदीना या नागदत्ता, नादा या नन्दा, पूषा, बडमाशि, माशिगी, मित्रश्री, मित्रा, मोषिनी, यशा, रुद्रदेवा, रुद्रा, लवणशोभिका, वसु, वसुया, वामदासी, वाहिका, विकटा, विजय श्री, विद्या, शान्ति, शिवयशा, शिशुरिका, श्यामा, श्री, सिमिता, सिंहदत्ता, सुखिता, स्थिरा, हस्तिनि, हस्तिसेना, क्षुद्रा आदि।

इन नामों में से भी अनेक नाम ऐसे हैं जो कई-कई बार आये हैं, जिससे प्रकट है कि एक-एक नाम की कई-कई विभिन्न महिलाएँ थीं, जो स्वाभाविक है। एक-एक महिला ने भी कई-कई दानादि कार्य किये और अभिलेख लिखाये। इन नामों में भी उज्झटिका, ओखारिका, गुल्हा, बडमाशि, माशिगी, मोषिनी, वाहिका, शिशुरिका

आदि नाम ऐसे हैं जो उनका यवन, शक, पह्लव, कुषाण आदि विदेशी जातियों की स्त्रियाँ होना सूचित करते हैं। ऐसे ही आधारों पर प्रसिद्ध प्राच्यविद् एवं पुरातत्त्वज्ञ प्रोफेसर एच. लूडर्स ने (भण्डारकर वाल्यूम में) कथन किया था कि 'मथुरा में पार्थियन (पह्लव) जाति के ऐसे अनेक व्यक्ति थे, जो शकक्षत्रपों के शासनकाल में इस नगर में आकर बस गये थे और यद्यपि वे जैनधर्म में दीक्षित हो गये थे उन्होंने अपनी मातृभूमि (पार्थिया) की परम्पराओं को भी सुरक्षित बनाये रक्खा।' इन विदेशी जातीय जैन महिलाओं में से ओखा प्रभृति जैन साध्वियाँ भी बनीं। अतएव ये विदेशी जैनधर्म के मात्र गृहस्थ अनुयायी— श्रावक-श्राविका ही नहीं थे, वरन् उनमें से अनेक भारतीय जैनों की भाँति ही, मुनि या आर्यिका की दीक्षा भी ले लेते थे और उस रूप में और अधिक स्वपर-कल्याण में रत होते थे।

धर्मात्मा महिलाओं के नाम के पूर्व बहुधा आर्या, श्राविका, श्रमणश्राविका, श्रमणोपासिका आदि विशेषण प्रयुक्त हुए हैं। उनके पारस्परिक एवं पारिवारिक सम्बन्ध माता, धितु (पुत्री), पौत्री, भगिनी, पितामही, वधू (पुत्रवधू या पतोहू), भार्या या पत्नी, धर्मपत्नी, ज्येष्ठा या प्रथम पत्नी, कुटुम्बिनी (गृहणी, गृहस्वामिनी या मालकिन के अर्थों में) आदि शब्दों से सूचित किये गये हैं। कतिपय अभिजात कुलोत्पन्न महिलाओं के लिए स्वामिनी, देवी प्रभृति विशेषण प्रयुक्त हुए हैं। महिलाओं के सम्बन्धी पुरुषों का उनके पिता, पुत्र, पौत्र, भ्राता, श्श्र (सास), शशुर, परिजन आदि रूपों में उल्लेख किया गया है। कई महिलाओं के नाम देकर केवल 'अमुक की पुत्री, पत्नी या पतोहू, आदि रूपों में उनका परिचय दिया गया है। कुछ महिलाओं के नामों के साथ व्यवसाय सूचक विशेषण, यथा गणिका (वेश्या), रायंगिनी (रंगरेजिन), सार्थवाहिनी (वनजारिन) आदि का भी प्रयोग मिलता है, जिससे प्रकट है कि देश की आर्थिक प्रवृत्तियों में भी इन महिलाओं का सक्रिय सहयोग था और यह कि गणिका के जैसा व्यवसाय भी उनके धर्मपालन एवं समान धर्माधिकार में बाधक नहीं था। जैनधर्म एवं जैनकला के संरक्षण तथा पोषण में महिलाओं ने प्रशंसनीय योग दिया था। धर्मपालन में तो स्त्रियाँ बहुधा पुरुषों से आगे रहती हैं, मथुरा पुरातत्त्व में उपलब्ध जैनकला-कृतियों में से अधिकांश के निर्माण एवं प्रतिष्ठित कराने का श्रेय भी कुटुम्बिनी श्राविकाओं को ही है। प्रो. कृष्णदत्त वाजपेयी के शब्दों में— ये कलाकृतियाँ हमारी मूल्यवान् निधि हैं और जब तक ये विद्यमान रहेंगी तब तक उन उदारचेता महिलाओं की मधुर स्मृति जागृत किये रहेंगी जिन्होंने इहलोक और परलोक में कल्याण का विस्तार करने के हेतु धार्मिक कृत्यों को निःस्वार्थ रूप में अपनाया था।

वस्तुतः तत्कालीन मथुरा का जैनसमाज उदार, प्रगतिशील एवं अग्रगामी था, उसके समस्त अंग सक्रिय एवं प्राणवान् थे। लेखों में जो उस काल के स्त्री-पुरुषों के नाम प्राप्त हुए हैं, उनमें से अनेक नाम ऐसे भी हैं जो उस काल की उच्चसभ्यता,

सुसंस्कृति एवं लोकरुचि के परिचायक हैं। मथुरा नगर एवं प्रदेश की समृद्धि एवं श्रेष्ठ संस्कृति की, विशेष कर वहाँ की उस काल की जैनसमाज की, जो सुन्दर झाँकी उपर्युक्त जैन शिलालेखों में प्राप्त होती है उससे यह अनुमान भी सहज ही किया जा सकता है कि प्रायः तत्कालीन बहुभाग सभ्य भारत की ऐसी ही दशा थी।

लगभग ईसापूर्व 200 से लेकर सन् ई. 300 तक के शिलालेखों की भाषा प्राकृत-संस्कृत मिश्र है और लिपि ब्राह्मी है, थोड़े से लेख खरोष्टी लिपि में भी हैं जो विदेशी पश्चिमी प्रभाव के सूचक हैं। इन लगभग 500वर्ष से सम्बन्धित मथुरा के शिलालेख कुछ ऐसे शृंखलाबद्ध हैं कि इनके आधार पर उनमें प्रयुक्त भाषा एवं लिपि का क्रमिक विकास लक्ष्य किया जा सकता है। प्राकृत के व्याकरण, उस भाषा की विभिन्न बोलियों, शब्द प्रयोगों, शब्दों की व्युत्पत्ति एवं अर्थ विकास आदि के अध्ययन के लिए भी ये लेख पर्याप्त महत्त्वपूर्ण हैं। वस्तुतः जैसा कि डॉ. विन्सेण्ट स्मिथ ने (जैन स्तूप, पृ. 409) पर कथन किया है— ये अभिलेख अन्य बातों के अतिरिक्त भारतीय या ब्राह्मी लिपि के इतिहास, प्राकृत भाषाओं के व्याकरण एवं मुहावरों, भारतीय कला के विकास, उत्तर भारत के राजनीतिक एवं सामाजिक इतिहास और (इस अर्थात् जैन) भारतीय धर्म के अनुयायियों के इतिहास, संगठन एवं पूजा-पद्धति पर प्रकाश डालते हैं। इन खोजों ने अनके अंशों में लिखित जैन अनुश्रुतियों को समर्थन प्रदान किया है और जैनधर्म की प्राचीनता का तथा उसके प्रायः वर्तमान रूप से ही अतिप्राचीनकाल में विद्यमान रहने का अकाट्य प्रमाण प्रस्तुत कर दिया है। यह स्पष्ट है कि ईस्वी सन् के प्रारम्भ के लगभग भी अपने-अपने विशिष्ट लांछनों से युक्त चौबीस तीर्थंकरों की परम्परा में लोगों का दृढ़ विश्वास था। कंकाली टीले के उत्खनन में विशेष योग देने वाले डॉ. फुहरर ने इन लेखों के आधार पर उस काल के मथुरा के जैनों की ऐतिहासिक बुद्धि तथा उनकी अपने दानादि धार्मिक कृत्यों का व्यवस्थित लेखा रखने की प्रवृत्ति की बड़ी सराहना की है। व्हूलर, फ्लीट, बर्गेस, जैकोबी, रैप्सन, रामप्रसाद चांदा आदि प्राच्यविदों ने भी इन अभिलेखों की इसी बात के लिए बड़ी प्रशंसा की है और अनेक जैन मान्यताओं, पाठों एवं प्रतीकों की प्राचीनता भी उनसे सिद्ध है। कोल, उच्चैनगर, संकिषा, माध्यमिका, अहिच्छत्रा, राधा, वज्रनगरी आदि उस काल में उत्तर भारत के अन्य प्रसिद्ध जैन केन्द्र थे। यह बात भी इन लेखों से सूचित होती है।

जैन बौद्वे स्तूप (वर्तमान कंकाली टीला) का क्षेत्र तो उस काल में मथुरा में जैनधर्म का सर्वप्रधान केन्द्र था ही और उनके अनेक विशाल एवं सुन्दर धर्मायतनों से समलंकृत था, मथुरा नगर में अन्यत्र भी तथा उसके आस-पास के कई विभिन्न स्थानों में भी जैन मुनियों एवं साध्वियों के सुव्यवस्थित संस्थान, विहार, आश्रम आदि थे जो ज्ञान, शिक्षा एवं धर्माचरण के प्रमुख सार्वजनिक स्थान थे— केवल त्यागी ही नहीं, गृहस्थ भी उनका समुचित लाभ उठाते थे। ❖❖

उत्तर प्रदेश की जैन कला एवं तीर्थंकर ऋषभदेव

✍ डॉ. मारुतिनन्दन तिवारी

वैदिक एवं बौद्ध धर्म और कला की दृष्टि से उत्तर प्रदेश (प्राचीन मध्य देश) का विशेष महत्त्व रहा है, जो भारत की धर्म और संस्कृति की समन्वय परम्परा के और परस्परता का साक्षी है। पुरातात्त्विक दृष्टि से जैन कला के उत्तर प्रदेश के पुरावशेष निश्चित रूप से बिहार के बाद प्राचीनतम और दूसरी शती ईसापूर्व के हैं, जिनके प्रारम्भिक उदाहरण जैन आयागपट्टों के रूप में द्रष्टव्य हैं जो मुख्यतः मथुरा के कंकाली टीला से मिले हैं। जैन कला की दृष्टि से उत्तर प्रदेश के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पुरास्थल मथुरा (ल. दूसरी शती ई. पू से 1177 ई.), देवगढ़ (8वीं-नौवीं शती ई. से 14वीं शती ई.), चाँदपुर एवं सिरोन (ल. 10वीं-13वीं शती ई.), वाराणसी (ल. पाँचवीं-सातवीं शती ई.), सहेठ-महेठ (गोण्डा), अयोध्या (ल. तीसरी शती ई. पू.), बटेश्वर (आगरा-10वीं-12वीं शती ई.), उन्नाव, अहिच्छत्रा, कौशाम्बी (आठवीं से 11वीं शती ई.), पभोसा, लच्छगिरि, कहौम (देवरिया-460 ई.), महोबा एवं हमीरपुर हैं।

उत्तर प्रदेश की जैन कला मुख्यतः दिगम्बर परम्परा से सम्बद्ध रही है किन्तु प्रारम्भिक कला केन्द्र मथुरा की मूर्तियाँ कम से कम कुषाण काल यानी दूसरी शती ई. के अन्त तक एक दूसरी ही स्थिति का संकेत देती हैं। इनमें महावीर के गर्भापहरण का दृश्यांकन है, जो केवल श्वेताम्बर ग्रन्थों में वर्णित है। दूसरी ओर सभी कायोत्सर्ग तीर्थंकर मूर्तियाँ निर्वस्त्र हैं जो दिगम्बर परम्परा की सूचक है। इसी सन्दर्भ में 'कण्हश्रमण' के लेख वाला फलक (राज्य संग्रहालय, लखनऊ जे. 623, जे. 105) और उसमें जैन साधु के हाथों में लटकता वस्त्र तथा उसके माध्यम से जननेन्द्रिय का ढंका होना भी उल्लेखनीय है। इसे विद्वानों ने अर्धफालक सम्प्रदाय या यापनीय सम्प्रदाय से सम्बद्ध करने का प्रयास किया है।[1] आचारांग सूत्र में अचेलक और सचेलक दोनों प्रकार के जैन साधुओं का उल्लेख है[2] जबकि तीर्थंकरों को सदा दिगम्बर निरूपित किया गया है।[3] परिस्थितियों के अनुरूप जैन मुनियों के अचेलक और सचेलक होने का सन्दर्भ उत्तराध्ययनसूत्र में भी मिलता है।[4] वास्तव में शास्त्र और कला में श्वेताम्बर-दिगम्बर सम्प्रदाय भेद पाँचवीं शती ई. के पूर्व नहीं माना जाना चाहिए।

देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के नेतृत्व में वलभी वाचना (ल. 550 ई.) एवं अकोटा (गुजरात)[5] से प्राप्त पाँचवीं शती ई. की श्वेताम्बर मूर्तियों के काल से ही श्वेताम्बर-दिगम्बर सम्प्रदायों के स्थापित भेद को ऐतिहासिक आधार पर स्वीकार किया जा सकता है।

जैन पुरास्थलों में मथुरा, वाराणसी एवं देवगढ़ तथा समीपवर्ती चाँदपुर, चन्देरी-सिरोन-खुर्द का विशेष महत्त्व है। चाँदपुर, चन्देरी एवं सिरोन खुर्द की अष्टप्रातिहार्यों एवं यक्ष-यक्षी युगलों वाली ऋषभनाथ शान्तिनाथ (महाप्रमाण), नेमिनाथ पार्श्वनाथ एवं महावीर तीर्थंकरों की लांछनयुक्त मूर्तियाँ पूर्व-मध्यकालीन पूर्ण विकसित तीर्थंकर मूर्तियों की उदाहरण हैं, जिनके विस्तृत अध्ययन एवं सम्यक् सुरक्षा-संग्रह की नितान्त आवश्यकता है। इन स्थलों से बाहुबली, बाहुबली सहित जिनों एवं सरस्वती, अम्बिका, चक्रेश्वरी, पद्मावती की भी 10वीं से 12वीं शती ई. के मध्य की विपुल मूर्तियाँ मिली हैं। **जैन समाज कभी-कभी अति उत्साह में इन मूर्तियों में सुधार-परिवर्तन द्वारा इनके ऐतिहासिक महत्त्व और स्वरूप को प्रभावित/परिवर्तित कर देता है जिस पर स्वनियन्त्रण आवश्यक है।**

जैन परम्परा में विशेष महत्त्व के कारण ही उत्तर प्रदेश में न केवल प्रारम्भिक तीर्थंकर मूर्तियों के विकास का दिग्दर्शन कराने वाली जैन मूर्तियाँ मथुरा-वाराणसी में उकेरी गयीं वरन् परवर्ती विकास के चरण और अभिनव प्रयोग के विरल उदाहरण भी इसी क्षेत्र में मिलते हैं। भरत चक्रवर्ती, तीर्थंकरों के समान प्रतिष्ठापरक स्थिति में बाहुबली, जैन आचार्यों और सरस्वती का रूपायन भी देवगढ़ जैसे कला केन्द्रों पर 10वीं से 13वीं शती ई. के मध्य इसी क्षेत्र की मूर्तियों में हुआ है। देवगढ़ में जैन परम्परा की मर्यादा में शिल्पी ने ऐसे अनेक नूतन प्रयोग किये जो अन्यत्र दुर्लभ हैं।[6] यहाँ के शान्तिनाथ मन्दिर (मन्दिर 12-862 ई.) की भित्तियों पर चारों ओर 24 तीर्थंकर आकृतियों के नीचे उनकी यक्षियों का शिल्पांकन हुआ है, सम्पूर्ण भारत में 24 यक्षियों के सामूहिक निरूपण का यह प्रारम्भिकतम प्रयास है और इसका गौरव भी उत्तर प्रदेश को ही प्राप्त है। यक्षियों की मूर्तियों में 10वीं शती की दशभुजा चक्रेश्वरी की स्थानक मूर्ति विशेषतः उल्लेखनीय है। गरुडवाहना यक्षी के नौ सुरक्षित करों में चक्र द्रष्टव्य है। जैन यक्षी अम्बिका की नवीं शती की एक द्विभुजी ललितासीन मूर्ति में सिंहवाहन एवं पुत्र के अतिरिक्त बलराम और कृष्ण की चतुर्भुज आकृतियों से वेष्टित नेमिनाथ की आकृति भी शीर्ष भाग में देखी जा सकती है। इस मूर्ति में गणेश और कुबेर का अंकन भी महत्त्वपूर्ण है।

ऋषभनाथ और पार्श्वनाथ के साथ क्रमशः लटकती जटाओं और सात सर्पफणों का छत्र भी सर्वप्रथम इसी प्रदेश में मथुरा की शुंग-कुषाण काल की मूर्तियों में प्रदर्शित हुआ है। नेमिनाथ के साथ पार्श्वों में हलमूसलधारी बलराम और चक्र-गदाधारी वासुदेव कृष्ण का रूपायन भी सर्वप्रथम इसी क्षेत्र में मथुरा (पहली-तीसरी शती ई.)

एवं देवगढ़ (मन्दिर 2-10वीं शती ई.) की मूर्तियों में हुआ। 24वें तीर्थंकर महावीर की सिंह लांछन युक्त प्राचीनतम मूर्ति भी सर्वप्रथम इसी प्रदेश में बनी जिसका मनोज्ञ उदाहरण वाराणसी से मिला है और सम्प्रति भारत कला भवन वाराणसी (क्रमांक 161) में सुरक्षित है।[7] लगभग पाँचवीं शती ई. की इस ध्यानस्थ मूर्ति में राजगीर की पूर्ववर्ती परम्परा में सिंह लांछन की दो आकृतियाँ पीठिका छोरों के स्थान पर धर्मचक्र के दोनों ओर उकेरी हैं। जैन परम्परा ही नहीं वरन् सम्पूर्ण भारतीय प्राचीनतम एवं अभिलिखित स्वतन्त्र सरस्वती प्रतिमा (132 ई.) भी मथुरा (कंकाली टीला) से मिली है।[8] पुस्तकधारिणी सरस्वती की मूर्ति वर्तमान में लखनऊ के राज्य संग्रहालय (क्रमांक जे. 24) में सुरक्षित है। जैन प्रतिमा लक्षण की दृष्टि से उत्तर प्रदेश के अग्रगामी योगदान के संकेत के बाद मथुरा की शुंग-कुषाण कालीन जैन मूर्तियों के लक्षणपरक वैशिष्ट्य का संक्षेप में उल्लेख भी यहाँ प्रासंगिक है।

मथुरा :— साहित्यिक और आभिलेखिक साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि मथुरा का कंकाली टीला एक प्राचीन जैन स्तूप था[9] जहाँ से विशाल जैन स्तूप के अवशेष एवं विपुल संख्या में मूर्तियाँ मिली हैं।[10] यह सामग्री ल. 150 ई. पू. से 1177 ई. के मध्य की है। मथुरा की जैन मूर्तियाँ आरम्भ से मध्य युग तक के जैन प्रतिमाविज्ञान की विकास श्रृंखला को दर्शाती हैं। इनमें आयागपट्ट, स्वतन्त्र एवं चौमुखी जिन मूर्तियाँ, जिनों के जीवन दृश्य (महावीर का गर्भापहरण एवं इन्द्र सभा की नर्तकी नीलांजना का ऋषभदेव के समक्ष नृत्य),[11] सरस्वती एवं शिशु जन्म से सम्बन्धित अजमुख नैगमेषी की मूर्तियाँ मुख्य हैं। आयागपट्ट मथुरा की प्राचीनतम जैन शिल्प सामग्री है, जिसका निर्माण शुंग-कुषाण काल में और वह भी केवल मथुरा में ही हुआ। ये वर्गाकार प्रस्तरपट्ट हैं जिन्हें लेखों में आयागपट और पूजा शिलापट कहा गया है। इन्हें जिनों (अर्हतों) के पूजन के लिए स्थापित किया जाता था।[12] एक आयागपट के वर्धमान (महावीर) के पूजन के लिए स्थापित किये जाने का उल्लेख मिलता है। आयागपट्ट उस संक्रमण काल के उदाहरण हैं, जब आराध्य देवों-जिनों का पूजन प्रतीक और मानव दोनों ही रूपों में साथ-साथ हो रहा था। आयागपट्टों पर धर्मचक्र, स्वस्तिक, श्रीवत्स, मत्स्य, युगल, त्रिरत्न, मंगल कलश, रत्नपात्र पद्म भद्रासन जैसे मांगलिक चिह्नों के साथ ही कभी-कभी मध्य में जिन की ध्यानस्थ मूर्ति भी उत्कीर्ण है। एक उदाहरण (राज्य संग्रहालय, लखनऊ— जे. 53) में श्रीवत्स चिह्न से युक्त जिन के शीर्ष भाग में सात सर्पफणों का छत्र भी प्रदर्शित है, जो पार्श्वनाथ का चिह्न है। यह पार्श्वनाथ की प्राचीनतम ज्ञात मूर्ति है। मथुरा में ही शुंग-कुषाण काल में तीर्थंकर मूर्तियों में वक्षःस्थल में श्रीवत्स चिह्न का अंकन प्रारम्भ हुआ। तीर्थंकर मूर्तियों की दोनों विशिष्ट मुद्राएँ ध्यानमुद्रा एवं कायोत्सर्ग भी मथुरा की ही मूर्तियों में सर्वप्रथम द्रष्टव्य हैं।[13] मथुरा से कम से कम 10 आयागपट्ट मिले हैं। इनमें स्तूप, त्रिरत्नों के

मध्य ध्यानस्थ पार्श्वनाथ तथा अमोहिनी द्वारा स्थापित आर्यवती तट (राज्य संग्रहालय, लखनऊ, जे. 1 जे 255, जे. 253) प्राचीनतम और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं।

मथुरा की कुषाणकालीन स्वतन्त्र मूर्तियों में जिनों को श्रीवत्स चिह्न से युक्त और कायोत्सर्ग-मुद्रा में खड़ा या ध्यानमुद्रा में आसीन रूपायित किया गया है। इनमें आठ प्रातिहार्यो[14] में से केवल 6 प्रातिहार्य सिंहासन, प्रभामण्डल, चैत्यवृक्ष, चामरधर सेवक, उड्डीयमान मालाधर एवं छत्र (त्रिछत्र नहीं) उत्कीर्ण हैं। शास्त्र वर्णित सभी आठ प्रातिहार्यों का जिन मूर्तियों में अंकन गुप्त काल के अन्त (छठी शती ई.) में ही देखने को मिलता है।[15] कुषाण कालीन मूर्तियों में कन्धों पर लटकती जटाओं एवं शीर्ष भाग में सात सर्पफणों के छत्र के आधार पर क्रमशः ऋषभनाथ एवं पार्श्वनाथ जिनों की पहचान सम्भव है। ज्ञातव्य है कि मथुरा की कुषाण कालीन जिन मूर्तियों में इन्हीं दो जिनों की सर्वाधिक मूर्तियाँ हैं। बलराम और वासुदेव कृष्ण की पार्श्ववर्ती आकृतियों से वेष्टित कुछ मूर्तियों (राज्य संग्रहालय, लखनऊ–जे. 47, जे. 60 जे. 117) की पहचान नेमिनाथ से की जा सकती है। राज्य संग्रहालय, लखनऊ (जे. 8) की एक मूर्ति में अरिष्टनेमि का नाम भी उत्कीर्ण है। कुछ उदाहरणों में पीठिका लेखों में दिये नामों के आधार पर सम्भवनाथ (125 ई.–राज्य संग्रहालय, लखनऊ, जे. 19), मुनिसुव्रत (20वें जिन–157 ई.–राज्य संग्रहालय, लखनऊ जे. 20-अर्हत् नन्द्यावर्त)[16] एवं महावीर (6 उदाहरणों में वर्धमान एवं एक-राज्य संग्रहालय, लखनऊ जे. 2 में महावीर की पहचान भी सम्भव है। इस प्रकार मथुरा की कुषाण कला में ऋषभनाथ, सम्भवनाथ, मुनि सुव्रत, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर की ही मूर्तियाँ उकेरी गयीं, जिनमें कल्पसूत्र[17] के विवरण के अनुरूप ही ऋषभनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर की मूर्तियों की प्रधानता है। उल्लेखनीय है कि सभी 24 जिनों का उत्कीर्णन गुप्तकाल के बाद ही मिलता है। जबकि 24 तीर्थंकरों का उल्लेख जैन शास्त्रों में पूर्व में ही कुषाण-गुप्त काल तक निश्चित रूप से निर्धारित हो चुका था।[18]

जिन चौमुखी या सर्वतो भद्रिका जिन मूर्तियों का उत्कीर्णन पहली शती ई. में मथुरा में प्रारम्भ हुआ और आगे की शताब्दियों में भी सभी क्षेत्रों में लोकप्रिय रहा। प्रतिमा सर्वतोभद्रिका या सर्वतोभद्र प्रतिमा का अर्थ है कि वह प्रतिमा जो सभी ओर से शुभ या मंगलकारी है।[19] चौमुखी मूर्तियों में चार दिशाओं में चार ध्यानस्थ या कायोत्सर्ग जिन मूर्तियाँ उत्कीर्ण होती हैं। जिन चौमुखी मूर्तियों की धारणा को विद्वानों ने जिन समवसरण की प्रारम्भिक कल्पना पर आधारित और उसमें हुए विकास का सूचक माना है।[20] पर इस प्रभाव को स्वीकार करने में कई कठिनायाँ हैं।[21] समवसरण वह देवनिर्मित सभा है, जहाँ तीर्थंकर कैवल्य प्राप्ति के बाद दिव्यध्वनि के माध्यम से अपना उपदेश देते हैं। समवसरण तीन प्राचीरों वाला भवन है, जिसके ऊपरी भाग में अष्टप्रतिहार्यो से युक्त तीर्थंकर ध्यान मुद्रा में (पूर्वाभिमुख)

विराजमान होते हैं। सभी दिशाओं के श्रोता उन तीर्थंकर का दर्शन कर सकें, इस उद्देश्य से व्यन्तर देवों ने अन्य तीन दिशाओं में भी उन्हीं जिन की प्रतिमाएँ स्थापित कीं। यह उल्लेख सर्वप्रथम आठवीं-नौवीं शती ई. के जैन ग्रन्थों में प्राप्त होता है। प्रारम्भिक जैन ग्रन्थों में चार दिशाओं में चार जिन मूर्तियों के निरूपण का उल्लेख नहीं प्राप्त होता है। ऐसी स्थिति में कुषाणकालीन जिन चौमुखी में चार अलग-अलग जिनों के उत्कीर्णन को समवसरण की धारणा से प्रभावित और उसमें हुए किसी विकास का सूचक नहीं माना जा सकता। आठवीं-नौवीं शती ई. के ग्रन्थों में भी समवसरण में किसी एक ही जिन की चार मूर्तियों के निरूपण का उल्लेख है जबकि कुषाणकालीन चौमुखी में चार अलग-अलग जिनों को चित्रित किया गया है। मथुरा की 1023 ई. की एक चौमुखी मूर्ति में ही सर्वप्रथम समवसरण की धारणा को अभिव्यक्ति मिली। पीठिका लेख में भी उल्लेख है कि यह महावीर की जिन चौमुखी है। समवसरण में जिन सदैव ध्यानमुद्रा में आसीन होते हैं, जबकि कुषाणकालीन चौमुखी मूर्तियों में जिन सदैव कायोत्सर्ग में खड़े हैं। जहाँ हमें समकालीन जैन ग्रन्थों में जिन चौमुखी मूर्ति की कल्पना का निश्चित आधार नहीं प्राप्त होता है, वहीं तत्कालीन एवं पूर्ववर्ती शिल्प में ऐसे एक मुख और बहुमुखी शिवलिंग एवं यक्ष मूर्तियाँ प्राप्त होती हैं, जिनसे जिन चौमुखी की धारणा के प्रभावित होने की सम्भावना हो सकती है।[22] जिन चौमुखी पर स्वस्तिक और मौर्य शासक अशोक के सिंह एवं वृषभ स्तम्भ शीर्षों का भी प्रभाव असम्भव नहीं है।

कुषाण काल की तुलना में गुप्त काल में मथुरा में कम जैन मूर्तियाँ बनीं, यह दूसरी बात है कि गुप्त काल में जैन मूर्तियों के प्राप्ति-स्थल का क्षेत्र विस्तृत हो गया। ये मूर्तियाँ मथुरा एवं चौसा के अतिरिक्त राजगिर, विदिशा, उदयगिरि, कहोम, वाराणसी और अकोटा (श्वेताम्बर) से मिली हैं। गुप्त काल में मथुरा में पार्श्वनाथ की अपेक्षा ऋषभनाथ की अधिक मूर्तियाँ उत्कीर्ण हुईं। पूर्व की भाँति ऋषभनाथ के साथ कन्धों पर झूलती केश व बल्लरियों तथा पार्श्वनाथ के साथ शीर्ष भाग में सात सर्पफणों का छत्र ही उनकी पहचान के आधार हैं। बलराम-कृष्ण की आकृतियों से वेष्टित नेमिनाथ की भी कुछ मूर्तियाँ मिली हैं। गुप्त काल में उत्तर प्रदेश (वाराणसी) एवं बिहार (राजगिर) में तीर्थंकरों के साथ पीठिका पर लांछनों तथा अकोटा की श्वेताम्बर मूर्तियों में शासन देवताओं के निरूपण की परम्परा प्रारम्भ हुई। इसी समय **वृहत्संहिता** (वराहमिहिर कृत—छठी शती ई.) में सर्वप्रथम स्पष्टतः तीर्थंकर मूर्ति की लाक्षणिक विशेषताओं का निरूपण हुआ।[23] इस ग्रन्थ में जिन मूर्ति के श्रीवत्स चिह्न से युक्त, निर्वस्त्र, आजानुलंबबाहु और तरुण स्वरूप में निरूपण का उल्लेख हुआ है। लगभग आठवीं-नौवीं शती ई. तक उत्तर प्रदेश की जिन मूर्तियों में पारम्परिक लांछनों, यक्ष-यक्षी युगलों और अष्टप्रातिहार्यों का नियमित अंकन मिलने लगता है।

ऋषभदेव की मूर्तियाँ :– उत्तर प्रदेश की जैन मूर्तियों के वैशिष्ट्य की चर्चा के उपरान्त ऋषभदेव की मूर्तियों का संक्षिप्त उल्लेख भी यहाँ अभीष्ट है। मानव समाज के आदि व्यवस्थापक एवं वर्तमान अवसर्पिणी युग के प्रथम तीर्थंकर होने के कारण ही न केवल उत्तर प्रदेश वरन् सम्पूर्ण उत्तर भारत में ऋषभदेव (आदिनाथ) की ही सर्वाधिक मूर्तियाँ बनीं। उल्लेखनीय है कि दक्षिण भारत में पार्श्वनाथ और महावीर की सर्वाधिक मूर्तियाँ उकेरी गयीं। वृषभ उनका लांछन और गोमुख एवं चक्रेश्वरी (या अप्रतिचक्रा) उनके यक्ष-यक्षी हैं। ऋषभदेव की प्राचीनतम मूर्तियाँ कुषाणकाल में मथुरा में बनीं। गुप्तकाल में भी उत्तर प्रदेश में केवल मथुरा से ही ऋषभदेव की मूर्तियाँ मिली हैं जिनमें आध्यात्मिक चिन्तन और आवयविक संरचना उत्कृष्ट है। इनमें कुषाणकालीन मूर्तियों के समान केवल कन्धों पर लटकती जटाओं के आधार पर ही ऋषभदेव से पहचान सम्भव है। गुप्तकालीन मूर्तियों में भव्य प्रभामण्डल और कन्धों पर लम्बी जटाओं का अंकन मनोहारी है।[24] श्रेष्ठतम मूर्तियाँ पाँचवीं शती ई. में बनीं। तीन कायोत्सर्ग मूर्तियों के अतिरिक्त शेष में ऋषभदेव ध्यानमुद्रा में हैं।[25] मथुरा के कटरा केशव देव से प्राप्त पाँचवीं शती ई. की एक कायोत्सर्ग मूर्ति में ऋषभनाथ का नाम भी उत्कीर्ण है।[26]

सातवीं से 12वीं शती ई. के मध्य की प्रभूत मूर्तियाँ उत्तर प्रदेश के विभिन्न पुरास्थलों से मिली हैं, जिनमें कन्धों पर जटाओं के अतिरिक्त वृषभ लांछन, अष्टप्रातिहार्यों एवं गोमुख-चक्रेश्वरी का अभिलेखन हुआ है। राज्य संग्रहालय, लखनऊ में इस कालावधि की 23 मूर्तियाँ हैं, जिनमें से 15 में ऋषभदेव कायोत्सर्ग मुद्रा में हैं। कुछ परिकर में 22 या 23 छोटी जिन आकृतियाँ भी बनी हैं जो चौबीस का भाव व्यक्त करती हैं। ल. 10वीं-11वीं शती ई. की दो मूर्तियों (राज्य संग्रहालय, लखनऊ क्रमांक–16. 0. 178, जे. 949) में ऋषभ के साथ चक्रेश्वरी के अतिरिक्त अम्बिका, पद्मावती एवं लक्ष्मी की भी आकृतियाँ उकेरी हैं, जो तीर्थंकर की विशेष प्रतिष्ठा की सूचक हैं।

कंकाली टीला, मथुरा की लगभग आठवीं शती ई. की एक ध्यानस्थ मूर्ति (राज्य संग्रहालय लखनऊ जे. 78) में वृषभ लांछन एवं जटाओं से शोभित ऋषभदेव के साथ यक्ष-यक्षी, कुबेर और अम्बिका है, जो मूलतः नेमिनाथ के यक्ष-यक्षी हैं। यक्ष-यक्षी की आकृतियों के ऊपर सात सर्पफणों के छत्र से शोभित बलराम और किरीट मुकुट से शोभित कृष्ण की स्थानक मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं, जो नेमिनाथ से सम्बद्ध हैं। कहीं राजगिरि की सोनभण्डार गुफा की तीर्थंकर मूर्तियों के समान प्रस्तुत उदाहरण में ऋषभदेव और नेमिनाथ की संयुक्त मूर्ति का उकेरन तो अभीष्ट नहीं था?

देवगढ़ में नौवीं से 12वीं शती ई. के मध्य की 60 से अधिक ऋषभदेव की मूर्तियाँ मिली हैं, जिनमें अधिकांशतः मूलनायक कायोत्सर्ग में निर्वस्त्र खड़े हैं।[27] इनमें मध्यकालीन मूर्तियों की सामान्य विशेषताओं के साथ ही लम्बी जटाओं का अलग-

अलग रूपों में अंकन ध्यातव्य है। चार उदाहरणों में पारम्परिक चक्रेश्वरी के स्थान पर यक्षी अम्बिका है और गोमुख यक्ष भी वृषानन नहीं है।[28] मन्दिर 12 की एक मूर्ति में सिंहासन पर चतुर्भुजा लक्ष्मी की भी दो आकृतियाँ उकेरी हैं। मन्दिर 4 और मन्दिर 12 की चहारदीवारी की दो मूर्तियों में सिंहासन पर पुस्तकधारी दो जैन आचार्यों की शास्त्रार्थ की मुद्रा में आकृतियाँ भी उत्कीर्ण हैं। मन्दिर की एक विरल मूर्ति (11वीं शती ई.) में यक्ष के स्थान पर अम्बिका रूपायित है, जबकि दूसरे छोर पर पूर्ववत् यक्षी चक्रेश्वरी उपस्थित है।

ऋषभदेव की मूर्तियों की दृष्टि से ल. 10वीं शती ई. की उरई (जालौन) से मिली और राज्य संग्रहालय, लखनऊ (क्रमांक 16. 0. 178) में संगृहीत मूर्ति मनोहारी और प्रतिमा लक्षण की दृष्टि से पूर्ण विकसित कोटि की है। ध्यानस्थ ऋषभदेव सिंहासन के ऊपर स्थित अलंकृत आसन पर विराजमान हैं। अलंकृत प्रभामण्डल, कन्धों पर लटकती लटें और धर्मचक्र के पार्श्व से निकलती गतिमान वृषभ लांछन की आकृति का अंकन चित्ताकर्षक है। परिकर में आठ लघु जिन एवं चामरधरों की आकृतियाँ सुरक्षित हैं। यक्ष के रूप में गोमुख के स्थान पर धन का थैला धारण करने वाले कुबेर रूपायित हैं, जबकि गरुडवाहना यक्षी चक्रेश्वरी है। धर्मचक्र के दोनों ओर लक्ष्मी और अम्बिका का शिल्पांकन भी महत्त्वपूर्ण है।

सन्दर्भ-सूची

1. पद्मनाथ एस. जैनी, मान्क्स फ्राम मथुरा : लिट्रेरी एवीडेन्स फार देयर आइडेन्टिफीकेशन ऑन कुषाण स्कल्पचर्स, बुलेटिन ऑफ ओरियण्टल एण्ड अफ्रीकन स्टडीज, (लन्दन), ख. 58, भाग-3, 1995, पृष्ठ 479-493
2. आचारांगसूत्र, 6.1.31, 40, 47, 60, 8.7. 111-12
3. आचारांगसूत्र, 9.1.4
4. उत्तराध्ययनसूत्र, 2. 13
5. यू.पी. शाह, अकोटा ब्रोन्जेज, बम्बई, 1959
6. द्रष्टव्य, क्लाज बुन, दि जिन इमेजेज ऑफ देवगढ़, लीडेन, 1969, मारुतिनन्दन तिवारी, जैन प्रतिमाविज्ञान, वाराणसी, 1981, पृष्ठ 67-69, एलिमेण्ट्स ऑफ जैन आइकनोग्राफी, वाराणसी, 1983
7. मारुतिनन्दन तिवारी, जैन आर्ट ऑफ दि गुप्त पीरियड, मार्ग (बम्बई-गुप्त आर्ट विशेषांक), 1991, पृष्ठ 30-32
8. के.डी. वाजपेयी, जैन इमेज ऑफ सरस्वती इन दि लखनऊ म्यूजियम, जैन एण्टीक्वेरी, खं. 11, अं. 2, पृष्ठ 1-4, जैन, ज्योति प्रसाद, "जैनसिस ऑफ जैन लिटरेचर एण्ड दि सरस्वती मूवमेण्ट", संग्रहालय पुरातत्व पत्रिका (लखनऊ), अं. 9, पृष्ठ 30-33
9. विविधतीर्थकल्प, पृष्ठ 17, बी.ए. स्मिथ, दि जैन स्तूप एण्ड अदर एण्टिक्वीटीज ऑफ मथुरा, वाराणसी, 1969, (पु.मु.), पृष्ठ 12-13

10. ए. कनिंघम, आर्कियलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया—रिपोर्ट, 1870-71, खं. 3, वाराणसी, 1966 (पु.मु.), पृष्ठ 45-46
11. राज्य संग्रहालय, लखनऊ जे. 626 एवं जे. 354
12. एपिग्राफिया इण्डिका, ख. 2, पृष्ठ 314
13. चौसा एवं प्रिंस ऑफ वेल्स संग्रहालय बम्बई की दो निर्वस्त्र और पाँच सर्पफणों वाली पार्श्वनाथ की प्रारम्भिक धातु मूर्तियों में भी जिन कायोत्सर्गमुद्रा में निरूपित हैं। पूर्व में इन मूर्तियों की पहली शती ई.पू. में तिथ्यांकित किया गया था, किन्तु वर्तमान में अधिकांश विद्वान् इसकी तिथि पहली शती ई. मानते हैं, जो मथुरा की प्राचीनतम कायोत्सर्ग मूर्तियों के समकक्ष है।
14. अष्ट प्रातिहार्य हैं : अशोक वृक्ष, देव दुन्दुभि, सुरपुष्पवृष्टि, त्रिछत्र, चामर, सिंहासन, दिव्यध्वनि, प्रभामण्डल पउमचरिय, 2.35-36 हरिवंशपुराण, 3-31-38
15. यू.पी. शाह, बिगिनिंग्स ऑफ जैन आइनोग्राफी, संग्रहालय पुरातत्व पत्रिका (लखनऊ), खं. 9, पृष्ठ 6
16. यू. पी. शाह, पूर्व निर्दिष्ट, पृष्ठ 7
17. कल्पसूत्र, 1. 183, 204-27
18. समवायांगसूत्र 157, भगवतीसूत्र 20. 8. 58-59, कल्पसूत्र 2. 184-203, पउमचरिय 1. 1-7, 5. 145-48
19. एपिग्राफिया इण्डिया, ख. 2, कलकत्ता, 1894, पृष्ठ 202-210
20. यू.पी. शाह, स्टडीज इन जैन आर्ट, वाराणसी, 1955, पृष्ठ 94-95 सुधीर, दि चौमुख–ए सिम्बालिक जैन आर्ट, जैन जर्नल, खं. 6, अं. 1, जुलाई 1971, पृष्ठ 27, बी. एन. श्रीवास्तव, सम इण्टरेस्टिंग जैन स्कल्पचर्स इन दि स्टेट म्यूजियम, लखनऊ संग्रहालय पुरातत्व पत्रिका, अं. 9, जून 1972, पृष्ठ 45।
21. विस्तार के लिए ज्ञातव्य, मारुति नन्दन प्रसाद तिवारी, सर्वतोभद्रिकाजिन मूर्तियाँ या जिन चौमुखी, सम्बोधि, खं. 8, अं. 1-4, जनवरी 80, पृष्ठ 1-7
22. मथुरा से कुषाणकालीन एकमुखी और पंचमुखी शिवलिंगों के उदाहरण मिले हैं। पंचमुखी शिवलिंगों में चार मुख चार दिशाओं में हैं और एक मुख सबसे ऊपर है। राजघाट (वाराणसी) से मिली परवर्ती शुंगकाल की एकाभिमुख यक्ष मूर्ति में तीन दिशाओं में तीन स्थानक यक्ष मूर्तियाँ बनी हैं : द्र. बी.एस. अग्रवाल, भारतीय कला, वाराणसी, 1977, पृष्ठ 267-68, पी.के. अग्रवाल, दि ट्रिपल यक्ष स्टैचू फ्रॉम राजघाट, छवि, वाराणसी, 1971, पृष्ठ 340-42
23. आजानुलम्बबाहुः श्रीवत्साइ कः प्रशान्तमूर्तिश्च।
दिग्वासास्तरुणी रूपवांश्चकार्योऽर्हतां देवः।। –बृहत्संहिता, 25.45
24. मारुति नन्दन तिवारी ; जैन आर्ट ऑफ दि गुप्त पीरियड, मार्ग, पृष्ठ 27-30
25. मथुरा संग्रहालय–बी. 6, बी. 33
26. राज्य संग्रहालय, लखनऊ–0.72, मथुरा संग्रहालय, 12. 258, बी. 33
27. मथुरा संग्रहालय, 12. 268
28. मारुतिनन्दन तिवारी, जैन प्रतिमाविज्ञान, पृष्ठ 89-90

❖❖

गुफाओं में जैनमूर्ति वैभव

(उत्तर प्रदेश के परिप्रेक्ष्य में)

✍ डॉ. शैलेन्द्र कुमार रस्तोगी

जैन धर्म में मोक्ष-प्राप्ति का एक मुख्य अंग है सामायिक। इसके लिए एकान्त परमावश्यक है। एकान्त हेतु गुफा, नदी तट एवं वन अत्यन्त उपयोगी होते हैं। जैन तीर्थंकरों को वन में वृक्ष के नीचे ज्ञान की उपलब्धि तीर्थंकरों के जीवन-वृत्तों से सुविदित ही है। गुफाओं में वर्षाकाल में विशेषकर पदविहारी साधु संघ रुकता था। वहीं पर वन्दना हेतु भगवान बाहुबली की प्रतिमाएँ पर्वत की चट्टानों पर तराशी गयीं। शासन देवियों एवं बृहत्काय गोम्मटेश्वर को विशाल चट्टान से तराशकर उपासकों के लिए प्रस्तुत किया गया। इतना ही नहीं, इन गुफाओं में उनके दाताओं के लेख भी कहीं-कहीं अभिलिखित पाते हैं। ये ईसा पूर्व द्वितीय शती में खण्डगिरि, उदयगिरि एवं पभोसा (उत्तर प्रदेश में), पाँचवीं सदी उदयगिरि (मध्य प्रदेश), छठी सती पुलकेशिन, द्वितीय एहोल अभिलेख, 10वीं शती राष्ट्रकूट और महोबा उत्तर प्रदेश बारहवीं सदी ईसवी के कतिपय महत्त्वपूर्ण स्थल हैं।

जागीमारा और सितन्नवासल की गुफाओं में तो उत्तम चित्रकारी उपलब्ध हुई है। कलुवा पहाड़ खण्डगिरि, उदयगिरि, नीलगिरि, ग्वालियर, सोनागिर, मन्दारगिरि, अजय गढ़, मुक्तागिरि, गिरिनार, मांगीतुंगी, एलोरा, बादामी, चन्दगिरि, त्रिकाल आन्ध्र प्रदेश के साथ उत्तर प्रदेश में पभोसा एवं महोबा उल्लेख योग्य निदर्शन हैं। श्रवणबेलगोला में विन्ध्यगिरि पहाड़ी पर उकेरी विश्व विश्रुत बृहदाकार गोम्मटेश्वर की प्रतिमा ने किसे नहीं आकर्षित किया है? काका कालेलकर के शब्दों में मूर्ति का सारा शरीर भरावदार, यौवनपूर्ण, नाजुक और कान्तिमान है। एक ही पत्थर से निर्मित इतनी सुन्दर मूर्ति संसार में और कहीं नहीं।

उत्तर प्रदेश, पूर्व से पश्चिम, उत्तर से दक्षिण आने-जाने में चूँकि रास्ते में पड़ता है अतः जैन साधुओं के चिन्तन-मनन हेतु यहाँ पर भी गुफाओं में तीर्थंकर प्रतिमाएँ उपलब्ध हुई हैं। जहाँ तक गुफाओं में अभिलेख का प्रश्न है, उस दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है, चूँकि उत्तर प्रदेश मैदानी भाग में है, उत्तुंग पहाड़ियों का अभाव है, इस कारण प्रदेश के केन्द्र स्थल कौशाम्बी-प्रयाग के सन्निकट प्रभास क्षेत्र पभोसा एवं

उत्तर दक्षिण आने-जानेवाले मार्ग में पड़ने वाले महोबा जनपद की पहाड़ी गुफाओं पर तीर्थंकर मूर्तियाँ और अभिलेख दोनों ही उपलब्ध होते हैं।

पभोसा :– पभोसा कौशाम्बी जनपद से यमुना नदी में जाने से केवल 10 कि.मी. पड़ता है। पभोसा यमुना तट पर उपस्थित है। छठे तीर्थंकर पद्मप्रभ के वैराग्य, दीक्षाकल्याणक, तप एवं केवलज्ञान का साक्षी पभोसा क्षेत्र रहा है, यहीं पर पद्मप्रभ के प्रथम समवसरण में उनके ज्ञानामृत उपदेश से प्राणियों को आत्म-कल्याण की प्रेरणा मिली। यहाँ दिगम्बर जैन धर्मशाला बनी हुई है। धर्मशाला में एक कमरे में मन्दिर है। जिसमें भूगर्भ से निकली हुई प्राचीन मूर्तियाँ भी विराजमान हैं। ये मूर्तियाँ हल जोतते समय किसानों को मिली हैं। ऋषभदेव मूल नायक पद्मासन तथा दोनों ओर दो-दो तीर्थंकर खड्गासन में हैं। एक खण्डित सर्वतोभद्रिका है। धर्मशाला के निकट पहाड़ी है। पहाड़ी छोटी है। पहाड़ी पर जाने के लिए 168 सीढ़ियाँ हैं। ऊपर जाकर समतल चबूतरा मिलता है। यहाँ मन्दिर था किन्तु एकाएक पर्वत टूटकर गिरा, मन्दिर टूट गया लेकिन मूर्तियाँ बच गयीं। पहाड़ी पर तीन मन्दिर, मानस्तम्भ और भट्टारक ललित कीर्ति की गद्दी थी। उल्कापात होने से सब नष्ट हो गया। उनके नष्ट होने पर इलाहाबाद के छज्जूमल ने सम्वत् 1881 में यह मन्दिर बनवाया था। इसका उल्लेख शिलालेख में मिलता है।

इस कमरे में एक गज ऊँचे चबूतरे पर सब प्रतिमाएँ विराजमान हैं। इनमें मूल नायक पद्मप्रभ की प्रतिमा हल्के बादामी रंग की पद्मासन में है जिसका आकार 77.5 से. मी. है। शैली की दृष्टि से ईसापूर्व प्रथम द्वितीय शती की प्रतीत होती है। इस प्रतिमा के बारे में कहा जाता है कि सूर्योदय के पश्चात् इसका रंग बदलने लगता है। ज्यों-ज्यों सूर्य आगे बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों इसका रंग लाल होता जाता है। 12 बजे लोहित वर्ण की हो जाती है और लगभग 3 बजे कत्थई। चूँकि गर्भ गृह में सूर्य का प्रकाश प्रतिमा पर सीधे नहीं पड़ता है, इस कारण इस प्रतिमा का रंग बदलता हुआ प्रतीत होता है। भगवान नेमिनाथ की भूरे पत्थर की पद्मासन प्रतिमा 72 से.मी. की है। शंख चिह्न बना हुआ है। इस पर दो अरिहन्त पद्मासन एवं दो खड्गासन अर्थात् पंचतीर्थी हैं। मन्दिर के ऊपर पहाड़ी की विशाल शिला में उकेरी चार लघुकाय जिन प्रतिमाएँ दीख पड़ती हैं। यह ध्यानलीन पद्मासन में हैं। ऊपर दो गुफाएँ भी हैं जिनमें अधोलिखित लेख गुफा के भीतर की ओर इस प्रकार है–

अधिछत्राया राज्ञो शौनकायन पुत्रस्य
वंगपालस्य पुत्रस्य राज्ञ तेवरणी पुत्रेण
अ । । बाढ़ सेनेन कारितं।
शिला के बाहर की तरफ
राज्ञो गोपाली पुत्रस बहसति मित्रस मातुलेन गोपलिया

वैह ।ी । दरी-पुत्रेन आसाढ़ सेनेन लेनं

(ब) कारितं उदाक (स) दस म-सव छरे ··· पि-त्र ··· अरह ··· [तां] ··· [नं][2]

दोनों लेखों की लिपि ब्राह्मी प्रायः द्वितीय प्रथम शती ईसा पूर्व डॉ. ए. फ्यूरर एवं ल्यूडर्स ने मानी है। भाषा संस्कृत से प्रभावित प्राकृत है। यहीं से एक आयागपट्ट भी मिला जो राजा शिव मित्र के शासन में शिवनन्दी के शिष्य ने अरिहन्तों की पूजा के लिए स्थापित कराया। यह भी इसी का समकालीन है। वे अभिलेख ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। एक तो शिलालेख से यह तथ्य प्रकट होता है कि राजा आषाढ़सेन ने इस लेनगुफा का निर्माण करवाया। दूसरा इसमें अहिक्षत्र, जो उत्तर पांचाल के प्रतापी राजाओं की राजधानी थी, वंशावली दी गयी है।

महोबा की गुफा :– चंदेल शासकों ने बुन्देलखण्ड को मन्दिरों तथा पक्की झीलों से प्रभूत सुन्दर कर दिया। महोबा जनपद में बड़ी चंद्रिका के ठीक पश्चिम में लगभग सौ मीटर पीछे पहाड़ी पर स्थित संरक्षित स्मारक है। यहाँ ग्रेनाइट शिला पर भीतर 12 तीर्थंकर प्रतिमाएँ उकेरी गयी हैं। बाहर खुले में भी 12 तीर्थंकर प्रतिमाएँ हैं। इनके साथ आचार्य की प्रतिमा भी मिली है जिस पर सम्वत् 1210 देवनागरी में खुदा है, जो मदनवर्मन के काल का है। गुफा के बाहर दो सर्वतोभद्र-स्तम्भ और चार मान-स्तम्भ बाहर पड़े हैं। इस स्थान को जैन अतिशय क्षेत्र कहा गया है। राजा मदनवर्मन स्वयं जैन मुनियों से बहुत प्रभावित रहते थे। उनके राज्य काल में बहुत-से जैन मंत्री परिषद में थे।[2] उत्तर प्रदेश में गुफाओं में मूर्ति लक्षण एवं अभिलेखीय साक्ष्य यद्यपि अल्प उपलब्ध होते हैं, लेकिन ऐतिहासिकता, मूर्तियों की शैली और प्राकृतिक छटा का मनोहारी मणिकांचन संयोग हुआ है।

सन्दर्भ सूची

1. इपी., इंडि, वॉल्यूम, 11, वृ. 242, जैन लेख संग्रह, भाग 2, पृष्ठ 10-11 विजय मूर्ति।
2. चौरसिया वासुदेव, चन्देल कालीन महोबा, पृष्ठ 26 दिल्ली, सन् 1994 ❖❖

भज श्री आदिचरण मन मेरे, दूर होय भव-भव दुख तेरे।
भगति विना सुख रंच न होई, जो ढूँढे तिहुँ जग में कोई।।
प्राणपयान समय दुख भारी, कंठ विषे कफकी अधिकारी।
तात, मात, सुत, लोक घनेरा, ता दिन कौन सहाई तेरा?
तू बसि चरण, चरण तुझ मांही, एक मेव ह्वे दुविधा नांही।
ता ते जीवन सफल कहावे, जनम, जरा, मृत पास न आवे।
अब ही अवसर, फिर जम घेरें, छांड़ि लरकबुध सदगुरु टेरें।
'द्यानत' और जतन कोऊ नाँही निर्भय होत तिहू जगमांही।।

—(द्यानत पद संग्रह 46)

उत्तर प्रदेश से प्राप्त आलेखों में जैन सन्दर्भ

✍ प्राचार्य कुन्दन लाल जैन

भारत के प्राचीन विभाजन में विन्ध्याचल पर्वत के ऊपरी भाग के नाम को उत्तर भारत तथा उससे नीचे के भाग को दक्षिण भारत कहा जाता रहा है। अतः उत्तर प्रदेश की सीमाओं से लगे मध्य प्रदेश और राजस्थान, हरियाणा आदि प्रदेशों में पर्याप्त मात्रा में शिलालेख मिलते हैं जिनसे जैन संदर्भों का ज्ञान, परिज्ञान पर्याप्त मात्रा में सुलभ है। उत्तर प्रदेश के निम्न स्थलों से पर्याप्त जैन सामग्री सुलभ है:– 1. भारत कला भवन, वाराणसी 2. इलाहाबाद म्यूजियम 3. मथुरा म्यूजियम 4. लखनऊ संग्रहालय 5. राजघाट व चन्द्रावती, वाराणसी 6. श्रावस्ती (गोंडा बहराइच) 7. ककुभ (कहायूं) 8. खुखुन्द (गोरखपुर) 9. शौरीपुर (आगरा) 10. मथुरा चौरासी तथा कंकाली टीला 11. एटा 12. कम्पिला 13. संकिसा 14. कन्नौज (फरूखाबाद) 15.चन्द्रवाड दुर्ग (फिरोजाबाद) 16. द्वाराहाट (अल्मोड़ा) 17. श्रीनगर (गढ़वाल) 18 नैनीताल 19. गाविषाण (काशीपुर) 20. हस्तिनापुर (मेरठ) 21. पुरिमताल (प्रयाग) 22. पभोसा 23. कौशाम्बी 24. चक्रनगर, इटावा 25. रौनाई (रतनपुरी) 26. अयोध्या 27. त्रिलोकपुर (बाराबंकी) 28. उन्नाव 29. महोवा 30. झाँसी 31. ललितपुर 32. बानपुर 33. चाँदपुर 34. दूधई 35. देवगढ़ 36. अहिच्छत्र 37. आगरा 38. हरिद्वार 39. खजुराहो (म.प्र.) 40. अर्थूणा आदि-आदि।

मथुरा जैन कला और संस्कृति और साहित्य का प्राचीनतम समृद्ध तीर्थ क्षेत्र रहा हैं। यहाँ के कंकाली टीले की खुदाई से प्राप्त अनेक कलाखंड जैन संस्कृति और धर्म की प्रगति एवं समृद्धि के द्योतक हैं। मथुरा (कंकाली टीला) से प्राप्त आयागपट्ट, स्तूप, सर्वतोभद्र प्रतिमाएँ, सरस्वती प्रतिमा, यक्ष-यक्षिणी की प्रतिमाएँ, अष्टमंगल आदि अनेकानेक कलाखंड मथुरा के इतिहास के साथ-साथ जैन संस्कृति और धर्म की समीचीनता एवं प्राचीनता के द्योतक हैं। कंकाली टीले से प्राप्त इन कलाखंडों पर प्राचीन ब्राह्मी लिपि में प्राकृत भाषा के लेख उत्कीर्ण हैं, जो ईसा से 800 से 200 ई. पू. तक के प्रतीत होते हैं। यहाँ से प्राप्त आयागपट्टों की संख्या आठ ज्ञात होती है, जिनमें से एक मथुरा म्यूजियम में तथा शेष लखनऊ म्यूजियम में सुरक्षित हैं। इनके लेख संदर्भ सूची में हैं। भगवान पार्श्वनाथ की प्राचीनतम पहली प्रतिमा एक आयागपट्ट पर उत्कीर्णित है, जो पद्मासन मुद्रा में हैं। इनके अगल-बगल में दो गणधर या मुनि

कायोत्सर्ग मुद्रा में नमन करते हुए खड़े हैं। भगवान के सिर पर फणावली और ऊपर त्रिछत्र है। यह भ. पार्श्वनाथ के ऐतिहासिक रूप की प्रथम कड़ी है। आयागपट्टों की श्रृंखला में दो अष्टमंगल, रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र) स्वरूपी हैं, दो स्तूपों के, दो अष्टमंगल, और शेष दो तीर्थंकर प्रतिमाओं से सम्बन्धित हैं। एक स्तूप तो 'देवनिर्मित बोद्धेथूवे' के नाम से प्रसिद्ध है, इसके विषय में चार पंक्तियों का ब्राह्मीलिपि में लेख उत्कीर्णित है, इसको कहा जाता है कि 800 बी. सी. पूर्व बना था और ईंटों से खचित था। भगवान पार्श्वनाथ के जन्म के बाद मणियों और रत्नों से खचित हो गया और देवनिर्मित कहलाने लगा। 9वीं ई. सदी में वप्पभट्टदेव सूरि ने इसकी मरम्मत कराई थी। इसके पढ़ने में यूरोपीय विद्वान् भी भ्रमित हुए और बौद्वेथूवे में 'बौद्व' शब्द की व्याख्या नहीं कर पाए। सभी इसे बौद्ध शब्द से ही उल्लेख करते रहे। मुझे भी इस बौद्व शब्द का अर्थ जानने की उत्सुकता रही। बहुत खोज शोध की, विद्वानों से चर्चावार्ता की, पुरातत्त्वज्ञों से इस शब्द की मीमांसा के लिए बहुत सिर खपाया पर कुछ संतोषप्रद समाधान न मिल सका एक पुरातत्त्वज्ञ डॉ. कृष्णदेव से हुई चर्चा से यह ज्ञात हुआ कि 'बोद्वेथूवे' में बौद्व एक स्वतंत्र शब्द नहीं है, अपितु बो से पहले प्रतिमा शब्द है सो प्रतिमावो तथा 'द्वेथूवे' बताया। यह समाधान कुछ संतोषजनक लगा, यह शिलाखंड मुनिसुव्रतनाथ की प्रतिमा से जुड़ा था, इसमें भगवान मुनिसुव्रतनाथ की प्रतिमा खंडित हो गई और यह अवशिष्ट मिला जिसमें अंतिम पंक्ति भी घिसी-पिटी है। डॉ. के. डी. वाजपेयी के अनुसार लेख का शुद्ध और स्पष्ट स्वरूप निम्न प्रकार रहा– वर्ष 79 की वर्षा ऋतु के चौथे मास में बीसवें दिन इस तिथि में आर्यवृद्ध हस्ति ने जो कोहियगण वईरशाखा के आचार्य थे, अर्हत् मुनिसुव्रत की प्रतिमा का निर्माण कराया। उनकी ही प्रेरणा से यह प्रतिमा जो आर्या श्राविका (दिना) का दान है, देवों द्वारा निर्मित स्तूप में प्रतिष्ठित कराई, अर्हत् प्रसन्न हों।

इस स्तूप के तले का व्यास 47 फीट है, यह ईंट आपस में बराबर न थी अपितु छोटी-बड़ी थी, इसकी भूमि का ढाँचा इक्के-गाड़ी के आकार का था, केन्द्र से बाहर की दीवार तक व्यासार्ध, जिन पर आठ दीवारें स्तूप के भीतर-भीतर ऊपर तक बनी थीं। इन दीवारों के बीच मिट्टी भरी मिली हैं। कदाचित् यह स्तूप ठोस था, गृह निर्माण की मितव्ययता के कारण भीतर की ओर केवल ये दीवारें ही बना दी गई थीं, इस कारण भीतर के कुछ हिस्सों में ईंटें चिनने की जरूरत न रही। स्तूप के बाहर की ओर तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ निर्मित थीं। एक अन्य जैन स्तूप तीसरी-चौथी सदी ई. का प्रतीत होता है।

इसमें एक ऐतिहासिक तथ्य छिपा पड़ा है जो पुराविदों की दृष्टि से ओझल हो गया है। वह यह है कि इस शिलाखंड पर कुछ श्राविकाएँ अंकित हैं, जो हाथों में कमल मालाएँ लिये दिखती हैं तथा उनके गले और कमर के वस्त्र सिले हुए लगते हैं। वैसे ऐतिहासिक दृष्टि से वस्त्रों की सिलाई का प्रचलन चीन से प्रारम्भ हुआ है पर इस शिलाखण्ड से प्रतीत होता है कि वस्त्रों की सिलाई का प्रारम्भ भारतवर्ष से हुआ था।

बिना सिले वस्त्रों की प्राचीन परम्परा अभी भी दक्षिण के कुछ भागों में प्रचलित है, वहाँ दूल्हे को सिले कपड़े नहीं दिये जाते, लुंगी जैसे खुले वस्त्र दिये जाते हैं।

उत्तर प्रदेश की महिमा है कि 24 तीर्थंकरों में से 13 तीर्थंकरों का जन्म श्रावस्ती, कौशाम्बी, वाराणसी, चन्द्रपुरी, काकंदी, सिंहपुरी, रत्नपुरी, हस्तिनापुरी, शौरीपुर आदि स्थानों पर हुआ था। 5 तीर्थंकरों की जन्मस्थली अयोध्या है शेष 6 तीर्थंकरों का जन्म विहार इसी प्रदेश में हुआ है। इस दृष्टि से उत्तर प्रदेश का बहुत महत्त्व है। चक्रवर्ती आदि शलाका पुरुष भी इसी प्रदेश से संबंधित हैं। भारत का प्राचीनतम नाम अंजंप्रदेश अंतिम कुलकर नाभिराय के साथ ही जुड़ा हुआ है। हस्तिनापुर में जहाँ राजा श्रेयांस ने भगवान ऋषभदेव को इक्षुरस का आहार दिया था, वहाँ इक्षुरस की जो कुछ बूँदें टपकी थीं। वहाँ ही राजा श्रेयांस के अग्रज सोमयश ने एक स्तूप बनाया था। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि स्तूप परम्परा जैनों की प्राचीनतम परम्परा है। बौद्धों की नहीं। बौद्ध तो हमारी नकल कर महात्मा बुद्ध के भिक्षा पात्र का उल्टा स्वरूप बनाकर उनमें अस्थि अवशेष रखा करते थे। जैनों के स्तूप में अस्थि अवशेष रखने की प्रथा नहीं रही है। ये तो वंदना और पूजा के स्रोत होते थे।

मथुरा से प्राप्त कलावशेषों में से 737 मूर्तियाँ मिली हैं, जिनमें कुछ लिपियुक्त हैं और कुछ बिना लिपि की हैं। यहाँ की लिपि प्राचीन ब्राह्मी तथा प्राकृत भाषा होती थी जो कुछ तो ई. पू. 300-200 वर्ष प्राचीन है, यह स्थान सर्व धर्म और सर्व समाज के समन्वय का केन्द्र रहा है। ई. की पहली सदी में शक महाक्षत्रप षोडास के शासन काल में जैन सिंहध्वज स्थापित हुआ था, श्रमण महारक्षित के शिष्य वात्सीपुत्र श्रावक उत्तर दासक ने प्रभु के प्रासाद का तोरण निर्माण कराया था। हारीति पुत्र पाल की भार्या श्रमण श्राविका कौत्सी अमोहिनी ने अपने पुत्रों पालघोष, प्रोस्थघोष एवं घनघोष के सहयोग से अर्हत वर्धमान को नमस्कार करते हुए आर्यावती (भगवान की माता) की प्रतिमा प्रतिष्ठित करायी थी तथा गणिका लवणशोभिका ने अपनी माता, बहिनों, पुत्रियों, पुत्रों तथा अन्य परिजनों के साथ श्रेष्ठी निगम के जिनालय में भगवान वर्द्धमान की पूजा के लिए वेदीगृह, पूजामंडप, तथा शिलापट्ट आदि निर्माण कराकर समर्पित किए थे, यह प्रथम गणिका भी श्रमण साधिका थी। कौशिकी शिवामित्रा ने प्रभु पूजार्थ मथुरा में आयागपट्ट प्रतिष्ठापित कराया था। कौशिकी शिवमित्रा का पति बड़ा वीर था जो गोतीपुत्र तथा पोठ्य (पह्लव या पार्थिमन) और शकों के लिए काल व्याल था। इस गोती पुत्र वीर इन्द्रपाल ने भी स्वयं एक जिन प्रतिमा प्रतिष्ठापित की थी। अन्य शिलालेखों में श्राविका धर्म-घोष बलहस्तिनी फल्गुयश नर्तक की भार्या शिवयशा, मथुरावासी लवाउ नामक एक विदेशी की भार्या के धार्मिक योगदान का उल्लेख किया है, यहाँ के क्षत्रपकालीन शिलालेखों में जैन शिलालेखों की संख्या सर्वाधिक है।

उस काल में जैन आचार्य लोहार्य, शिवार्य, स्वामीकुमार, विमलसूरि आदि विख्यात विद्वानों एवं मुनियों का अल्पाधिक रूप में इस प्रदेश से सम्पर्क रहा है। कुषाण काल

में तो मथुरा जनपद में जैनधर्म सर्वाधिक उन्नत और प्राणवान् रहा है। ऐसा यहाँ से प्राप्त शताधिक शिलालेखों से ज्ञात होता है। इन अभिलेखों में साधु-साध्वियों के अतिरिक्त कनिष्क, हुविष्क, वशिष्क और वासुदेव आदि कुषाण सम्राटों के नामों का पता चलता है, साथ ही सैकड़ों धर्म भक्त श्रावकों एवं धर्म प्राण महिलाओं के नाम ज्ञात होते हैं। विविध प्रकार के धर्म कार्यों, निर्माण कार्यों एवं दानियों के स्त्री-पुरुषों की जाति या वर्गों एवं व्यवसायों के नाम मिलते हैं। इसमें यवन, शक, पह्लव आदि विदेशी भी हैं। विभिन्न व्यवसायों जैसे श्रेष्ठि, मानिक (जौहरी), हैरण्य (सुनार) काष्ठवणिक, लोवणिक, लोहिक कारुक, गंधिक, रंगरेज, सार्थवाह ग्रामिक, गोष्ठिक, नर्तक, पुजारी, माली, शस्त्रोपजीवी आदि विभिन्न व्यवसायों में रत स्त्री-पुरुषों के नाम उस काल में जैन धर्म की व्यापकता के सूचक हैं।

मथुरा का 'सारस्वत' आन्दोलन इतिहास की बहुत बड़ी घटना है। संसार की प्राचीनतम जैन 'सरस्वती प्रतिमा' मथुरा के कंकाली टीले से प्राप्त हुई है। जब अंग ज्ञान लुप्त होने लगा और मौखिक ज्ञान संपदा समाप्त होने लगी तो ज्ञान का लिपिकरण के रूप में यह सारस्वत आन्दोलन प्रारंभ हुआ था। यहाँ की 'माथुरी वाचना' ऐतिहासिक तीन वाचनाओं में से एक प्रसिद्ध वाचना हुई थी, जिससे आगम ग्रन्थों में संशोधन और परिवर्धन की ऐतिहासिक चर्चाएँ हुईं थीं। कुषाण राजाओं के पराभव के पश्चात् मथुरा, कौशाम्बी, अहिच्छत्र आदि पर स्थानीय भिन्न वंशों का गण शासन हुआ तथा आस-पास के छोटे-छोटे प्रदेशों में यौधेय, भद्रक, अर्जुनायन आदि गणराज्यों की स्थापना हुई तथा भृगृशिव नागों ने भी अपनी-अपनी स्वतंत्र सत्ताएँ स्थापित की थीं। दूसरी शती के दिग्गज विद्वान् आचार्य समन्तभद्र वाराणसी से ही सम्बन्धित थे और जहाँ उन्होंने अपना चमत्कार दिखाया था। आचार्य यतिवृषभ जो तिलोयपण्णति के कर्त्ता हैं, वे भी संभवतः इसी प्रदेश से संबंधित रहे हों। अयोध्या के इक्ष्वाकु वंश का राजा गंगदत्त तथा उनके वंशज विष्णुगुप्त अहिच्छत्र के राजा थे। गुप्त काल भारतीय कला संस्कृति एवं साहित्य का स्वर्ण युग माना जाता है। जैन कला और साहित्य की भी उत्तरोत्तर वृद्धि इस युग में हुई। ऐसा गुप्तकालीन शिलालेखों से विदित होता है। रामगुप्त (375-379) नामक शासक जैन धर्म और कला एवं साहित्य के विकास में विशिष्ट सहायक था पर शेष गुप्त शासक वैष्णव धर्मानुयायी थे पर ज़ैन धर्म के प्रति द्वेषी नहीं थे। जब चीनी यात्री फाहयान भारत आया था तो भारत का जन-जीवन अहिंसामयी वातावरण से भरपूर था। मद्य-मांस का प्रयोग तो बिल्कुल ही विरल था। गुप्त सं. 57 (376 ए. डी.) में मथुरा में एक जैन प्रतिमा प्रतिष्ठित की गई थी। सं. 97 (416 ए. डी.) में भी एक जैन प्रतिमा कोटेय गण की वदूर शाखा के साधु के उपदेश से प्रतिष्ठापित की गई थी। गुप्त सं. 113 (416 ए. डी.) में कुमार गुप्त के शासनकाल में कोटेय गण की विद्याधरी शाखा के इलिताचार्य के उपदेश के भट्टिभव की पुत्री तथा प्रातारिक गृह मित्र पालित की पत्नी शमाढ्या ने जैन प्रतिमा प्रतिष्ठित कराई थी। सं. 141 (460 ए.

डी.) में ककुम (कहायूं-गोरखपुर) में स्कन्दगुप्त के शासनकाल में ब्राह्मण सोमिल के प्रपौत्र, महात्मा भट्टिसोम के पौत्र तथा यशस्वी रुद्रसोम के पुत्र पुण्यात्माभद्र ने कहायूं में पंच जिनेन्द्र स्तंभ की प्रस्थापना कराई थी।

इन्हीं दिनों सोन भंडार गुफा राजगृह में 400 ए.डी. में विदिशा की उदयगिरि गुफा, 425 ए.डी. के तथा पहाड़पुर (बंगाल) से जैन ताम्रपत्र लेख तथा जैन शिलालेख प्राप्त हुए हैं। पहाड़पुर के ताम्र पत्र लेख से विदित होता है कि इस काल में निर्ग्रन्थ श्रमणाचार्य गुहनन्दी, जो काशी निवासी थे, अत्यधिक प्रभावक जैन आचार्य थे, जिनके शिष्य-प्रशिष्य उत्तर प्रदेश के अतिरिक्त बंगाल, बिहार में जैन धर्म की धर्मध्वजा फहरा रहे थे, जो संभवतः पंचस्तूपान्वयी साधु थे। पंचस्तूपान्वयी जैन संघ का प्रादुर्भाव हस्तिनापुर या मथुरा से हुआ और धीरे-धीरे उसकी प्रसिद्धि महाराष्ट्र, कर्नाटक, तमिल आदि दक्षिण के प्रदेशों में फैली। गुप्तकालीन जैन मन्दिरों के भग्नावशेष उत्तर प्रदेश के मथुरा, हस्तिनापुर, देवगढ़, कहायूं श्रावस्ती, कौशाम्बी, वाराणसी और अहिच्छेत्र आदि प्रसिद्ध स्थानों से उपलब्ध हुए हैं। गुप्तोत्तर काल में कन्नौज का राजा हर्षवर्धन यद्यपि बौद्ध धर्मानुयायी था पर अन्य धर्मों के तथा विशेषतया जैनधर्म के प्रति उसका समन्वय और सहिष्णुता का भाव अत्यधिक रहता था। चीनी यात्री ह्वेनसांग के वर्णनों से विदित होता है कि इस काल में जैन साधु और उनके शिष्य-प्रशिष्य एवं देवायतन विपुलता से विद्यमान थे। प्रसिद्ध राजा हर्षवर्धन हर्ष के राजकवि बाणभट्ट की जैन क्षपणक वीरदेव से घनिष्ठ मैत्री थी। प्रसिद्ध भक्तामर स्तोत्र के रचयिता मानतुंग स्वामी इसी काल में इसी प्रदेश में हुए थे, ऐसा ऐतिहासिकों का मत है। आठवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में कन्नौज के प्रतापी एवं यशस्वी शासक नरेश यशोवर्मन के राजकवि तथा 'गौडवहो' प्राकृत काव्य के रचयिता वाक्यपति जैन थे।

कन्नौज के गुर्जर प्रतिहार वंशी राजे नागभट्ट प्रथम, कक्कुक तथा वत्सराज आदि सभी (775 से 800 ए.डी.) जैन थे, इनका मूल स्थान मारवाड़ भिनामाल (श्री माल) नगर था। उसमें से "रणहस्ति परभट भृकुटि भंजक" उपाधि से विभूषित वत्सराज ही गुर्जर प्रतिहार वंश का संस्थापक था और जैन धर्म का प्रबल पोषक एवं समर्थक था। जैनयति बप्पभट्ट महत्सूरि वत्सराज द्वारा सम्मानित एवं आदर के पात्र थे। आचार्य जिनसेन के हरिवंशपुराण तथा उद्योतन सूरि की कुवलयमालाकथा नामक ग्रन्थों में ऐसा उल्लेख मिलता है। वत्सराज ने अपने साम्राज्य में कई स्थानों पर जैन मन्दिर एवं जैन प्रतिमाएँ स्थापित कराई थीं। राजधानी कन्नौज में सौ हाथ ऊँचा जैन मन्दिर बनवाया था, जिसमें भगवान महावीर की स्वर्णमयी विशाल प्रतिमा प्रतिष्ठित कराई थी। वत्सराज का पुत्र वाग्भट्ट द्वि. (800-836 ए.डी.) भी बड़ा प्रतापी तथा जैन धर्म का प्रबल आश्रयदाता था। जैन साहित्य और अनुश्रुतियों में उसकी प्रभूत प्रशस्ति पाई जाती है, आचार्य बप्पभट्टसूरि वत्सराज के गुरु थे। वे वही बप्पभट्टसूरि थे जिन्होंने अपने सामने मथुरा के टीले वाले देवनिर्मित जैन स्तूप का जीर्णोद्धार कराया था। बप्पभट्ट चरित्र में उल्लिखित है कि

ग्वालियर नरेश 'आम' को ही गुर्जर प्रतिहार का वागभट्ट द्वितीय कहा जाता है। प्रभावक चरित्र के अनुसार इस नरेश की मृत्यु 833 ई. में गंगा में जल समाधि द्वारा हुई थी। वागभट्ट द्वितीय का पौत्र मिहिरभोज इस वंश का उत्तराधिकारी हुआ जो अपने समय का महान् राजा कहलाया। सन् 862 ई. में परम भट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर श्री भोजदेव के महासामन्त विष्णुराय के प्रश्रय में लुअच्छगिरि (देवगढ़) के आचार्य कमलदेव के शिष्य श्रीदेव ने श्रावक बाजू और गंगा नामक दो भाइयों से वहाँ के शान्तिनाथ के प्राचीन जैन मन्दिर का जीर्णोद्धार कराया था तथा उसके सम्मुख कलापूर्ण मुखमंडप तथा सुन्दर मानस्तम्भ बनवाकर प्रतिष्ठा करवाई थी तथा इन दोनों भाईयों को 'गोष्ठिक' उपाधि से विभूषित करवाया था। यह उपाधि किसी व्यापारिक निगम का सर्वश्रेष्ठ अधिकारी अथवा शान्तिनाथ मंदिर के ट्रस्टी स्वरूप प्रतीत होती है। भोजदेव का वंशज महीपाल द्वि. (940-945 ए.डी.) बड़ा विद्या प्रेमी एवं उदार शासक था। ऐसा समझा जाता है कि उसकी राजनीतिक परिपक्वता हेतु जैनाचार्य सोमदेव ने राजनीति के महान ग्रन्थों 'नीतिवाक्यामृत' एवं 'महेन्द्र मातलि संजल्प' जैसे श्रेष्ठ ग्रन्थों की रचना कर उसे राजनीति में दक्ष एवं कुशल बनाया था। आचार्य सोमदेव चम्पूकाव्य के विख्यात विद्वान माने जाते थे, उनका यशस्तिलक चम्पू नामक ग्रन्थ संस्कृत साहित्य की विशिष्ट निधि समझी जाती है। 9-10 ए.डी. में मथुरा, आगरा, नौगाँव आदि स्थानों पर निर्मित और प्रतिष्ठित प्रतिमाओं के मूर्तिलेखों से यह ज्ञात होता है कि यह प्रान्त सर्वाधिक जैन सम्पदा से अलंकृत था। सन् 830 से 1310 ई. तक उत्तर प्रदेश के बुन्देलखण्ड भू-भाग में झाँसी, ललितपुर, बाँदा, हमीरपुर, जालौन आदि जिलों में चन्देलों का राज्य रहा है, ये चन्देले वही थे जो गोल्ल देश के देशाधिप के पराजित होने पर गोल्लाचार्य हो गये थे। वे 'नूल चंदिलवंशी' थे। काल और प्रदेश के प्रभाव के कारण चन्दिल वंश ही चंदेल राज्य बन गया जिसका आदि संस्थापक नन्नुक चंदेल था। ये सभी चन्देल शासक जैन धर्म के प्रति अत्यधिक सहिष्णु और सहायक रहे। चन्देल वंश और गोल्ल देश के परस्पर संबंध होने से गोल्ल देश के मूल निवासी गोलराट् (गोलालारे) कहलाए। गोल्ल देश गोलालारों का राज्य था। गोल्लदेश के पूर्व दिशा के वासी गोलापूर्व तथा उत्तर दिशा के वासी गोल्लश्रृंग (गोलसिंगारे) कहलाए। जो लोग गोलाचार्य के विरागी होने पर अपना मूल देश छोड़ नन्नुक के नेतृत्व में कालिंजर, महोबा आदि बुन्देलखण्ड की ओर भागे तो वे तीनों गोलालारे, गोलापूर्व तथा गोलसिंघारे यहाँ परिश्रमपूर्वक व्यापार-व्यवसाय कर सम्पन्न बने और जैन मन्दिरों एवं जैन प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा कराकर जैनधर्म का खूब प्रचार किया और शासकों से सहयोग प्राप्त किया। उधर कुछ लोग गोल्हणदेव के नेतृत्व में कचलुरी शासक गमकर्ण के राज्य की ओर भागे और वहाँ स्थापित हो पूर्ण समृद्ध और सम्पन्न बने। इसके प्रमाण स्वरूप बोहरीबन्द की कायोत्सर्ग प्रतिमा का पूरा मूर्तिलेख बड़ा सहायक है कि वहाँ भी जैनधर्म का बहुत

विकास और प्रचार हुआ। बाकि जो लोग गोल्ल देशा से नहीं भाग सके और आजीविका और विकास के साधन ना मिलने पर आदिवासी रूप में विख्यात हो गये, जो आज गोंडवाल के रूप में प्रसिद्ध हैं।

चन्देलों की राजधानी जुझौती, खजुराहो (म.प्र.) कालिंजर और महोवा (उ.प्र.) आदि में जैन धर्म का मूर्ति निर्माण सम्बन्धी कार्य प्रचुरता से हुआ। इनके अतिरिक्त अजयगढ़, चंदेरी, ग्यारसपुर, बिलासपुर, अहार, पपौरा, विदिशा आदि स्थानों में पर्याप्त मात्रा में जैन ऐतिहासिक और पुरातात्त्विक सामग्री प्राप्त है। उत्तर प्रदेश के महोवा कंगलेजर, देवगढ़, करगुंवा (झाँसी) बानपुर, चन्दपुरा, दूधई, सेरोनजी आदि स्थानों से जो जैन धर्म की ऐतिहासिक एवं पुरातात्त्विक सामग्री प्राप्त हुई है, वह यह स्पष्ट घोषणा करती है कि वहाँ जैनों की बड़ी-बड़ी बस्तियाँ थीं। यहाँ बड़े-बड़े स्थापत्य कला से निर्मित विशाल जैन मन्दिर और कलापूर्ण मूर्तियों का निर्माण हुआ है। जैन कला के चन्देलकालीन अवशेषों में भारतीय मूर्ति एवं स्थापत्य शिल्प के सर्वोत्कृष्ट उदाहरणों में गणना की जाती है। इस प्रदेश में दि. जैनाचार्यों एवं विद्वानों का निर्विघ्न विहार होता रहता था। वानपुर का सहस्रकूट चैत्यालय अपनी कलापूर्ण निर्मिति के लिए विश्वविख्यात है। यह 1063 ई. में कीर्तिवर्मन चन्देल के शासन काल में बना था। 1097 ई. में कीर्तिवर्मा के मन्त्री वत्सराज ने देवगढ़ में नवीन दुर्ग बनवाकर इस क्षेत्र को कीर्तिनगर नाम प्रसिद्ध करा दिया था, जबकि इसका असली नाम लुअच्छ गिरि था। कीर्तिवर्मा चन्देल के समय (1112 ए.डी.) में महोवा में कई जिन प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित हुईं थीं। 1145 से 1163 ई. तक मदन वर्मा के शासनकाल में निर्मित दर्जनों जैन मूर्तियाँ महोवा से प्राप्त हुईं हैं। इन्हीं दिनों महोबा (Jain School of Arts) के नाम से विख्यात था और यही स्थिति देवगढ़ की भी थी। यह (The Center of Jain Arts) के नामा से विख्यात था, यहाँ से निर्मित मूर्तियाँ उत्तर भारत के बहुत से जिनालयों में विराजमान हैं। इनमें से 1154 की नेमिनाथ तथा 1156 की सुमति नाथ की प्रतिमाओं का निर्माता रूपकार शिल्पि लाखन था। महोवा के प्रसिद्ध जैन श्रेष्ठी रत्नपाल एवं उनके पुत्रों कीर्तिपाल, अजयपाल, वारतुपाल और त्रिभुवनपाल ने एक विशाल जिन मन्दिर बनाकर सन् 1163 ई. में भगवान अजितनाथ की प्रतिमा प्रतिष्ठित कराई थी। सन् 1151 में गृहपति वंशी (गहोई कुलोत्पन्न) श्रेष्ठी महिपति ने सपरिवार नेमिनाथ का विशाल जैन मंदिर बनवाया था। चन्देल परमाल (1165-1203) के शासन काल में महोवा में अनेक जिन बिम्बों एवं विशाल जैन देवायतनों का निर्माण हुआ था। सन् 1167 ई. में महोवा का विशाल जिन मंदिर का निर्माण राज्याश्रय में ही हुआ था। कुछ जैन मूर्तियाँ वीरवर्मन चन्देल (1274-1278ई.) कालीन भी मिली हैं। अकेले देवगढ़ में (954-1250 ई. तक) दर्जनों शिलालेख एवं मूर्तिलेख प्राप्त हैं। इस युग गृहपव्यन्वयी (गहोई) में पाड़ाशाह (भैसाशाह) नामक एक उदार दानी जैन धनकुबेर हुए थे, जिन्होंने बुन्देलखण्ड में सैकड़ों जिन मन्दिर, जिनबिम्ब, कुएँ, बावड़ियाँ तड़ाग, धर्मशालाएँ, सराएँ बनवाई थी, ऐसी जनश्रुतियाँ

प्रचलित हैं। वे भगवान् शान्तिनाथ के बड़े भक्त थे जगह-जगह शान्ति जिन बिम्बों की कायोत्सर्ग मुद्रा में बड़ी लम्बी ऊँचाई वाली प्रतिमाएँ बनवायी थीं। इसके असली नाम का आज तक पता नहीं चल पाया है। यह तो पाड़ों (भैंसों) द्वारा अपना व्यवसाय व कारोबार किया करते थे, इसीलिए पाड़ाशाह (भैंसाशाह) से ही विख्यात रहे। इनके प्रति स्थानीय दंत कथाएँ तथा लोकानुश्रुतियों में बड़ी प्रशंसा और धार्मिक उदारता का जयघोष खुलकर किया गया है।

सन्दर्भ सूची

1. 1. नमो अरहतो वर्धमानस 2. स्वामिस महाछत्रयस शोडासस संवत्सरे 40 (9) 2 हेमंतमासे दिवसे 9 हरित पुत्रस पालस भयाये समसाविकाये 3. कोछिये अमोहिनिये सहा पुत्रेहि पाल घोषेन पोठ घोषेन घनघोषेन आयवती प्रतिथापिता प्राय (भ) 4. आर्येवती अरहत पूजाये।
2. 1. नमो आरहतो वर्धमानस दण्दाये गणिका 2. लोणशोभिकाये धितु शमण साविकाये 3. नादाये गणिकाये वासषसे आरहता देविकुला 4. आयाग सभा प्रपा शीलावआ प्रतिष्ठापितं निगमा 5. ना अरहतायतने स (ह) मातरे भगिनिये धितरे पुत्रणे 6. सविन च परिजनेन अरहत पुजाये।
3. 1. नमो अरहतो वर्धमानस गाति पुत्रस पोठयशकं 2. कालवासस 3. भार्याये कोशिकिये शिमित्राये अयागपट्टो प्रतिष्ठापितो।
4. 1. नमो अरहंतानं फगुयशस 2. नतकस भयाये शिवयशा 3. ··· काये 4. अयागपट्टो कारितो 5. अरहत पुजाये।
5. 1. नमो अरहतो महाविरस। माथरक लवाडस (सा) भयाये ··· ताये (आयागपट्टो)।
6. 1. सिद्धं सं 4 प्रि। दि. 20 वारणातो गणातो अर्य्य हाट्टाकि किया तो कुलतो वजणगरित (ा सा) 2. पुश्यमित्रस्य शिशिनि सधि सहाये शिशिनि सिंह मित्रस्य सढ़चरि 3. दाति सहा ग्रह वेटेन ग्रहदासेन।
7. 1. नमो अरहंतानं सिंहकस वानिकस पुत्रेण कोशिकि पुत्रेण 2. सिंह नादिकेन आयागपट्टो प्रतिथापितो अरहंत पुजाये।
8. 1. नमो अरहंतानं (मल) ··· णस धितु भद्रयशस वधुये भद्र यशस भयाये 2. अ (चला) ये आयागपट्टो प्रतिथापितो अरहंतपुजाये।

गुफा पमोसा (अहिच्छत्र) 200 बी.सी. :

1. राजो गोपाली पुत्रस 2. वहसति मित्रस 3. मातुलेन गोपाली या 4. वैहिदरी पुत्रेण (आसा) 5. आसाढ़ सेनेन लेनं 6. कारितं (उदाकस दस 7. मे संवछेरे कशशपीयानं अशहत 8. नं. ···)

गुफा पमोसा (अहिच्छत्रा) लगभग 200 बी.सी. :

1. अधिपछत्राराजो शोनकायन पुत्रत्स वंगपालस्य 2. पुत्रस्य राजो भागवतस्य पुत्रेण 3. वैहिदरी पुत्रेण आषाढ़ सेनेन कारितं।

❖❖

शूरसेन जनपद की जैन विरासत

✍ डॉ. बिहारी लाल नागार्च

जैन आचार्य शुभचन्द्र ने सिद्धक्षेत्र की महिमा का अग्र श्लोक से वर्णन किया है–

सिद्ध क्षेत्रे महातीर्थे पुराण पुरुषाश्रिते।
कल्याणकलिते पुण्ये ध्यानसिद्धिः प्रजायते।।

सिद्धक्षेत्र महातीर्थ होते हैं। यहाँ महापुरुषों का निर्वाण हुआ है। ये क्षेत्र कल्याणदायक और पुण्यवर्धक हैं। यहाँ ध्यान करने से सिद्धि की प्राप्ति होती है।

प्राकृत निर्वाण कांड में एक गाथा है जो अग्रलिखित है–

महुराए अहिछित्ते वीर पासं तहेव बंदामिने।
जंबुमुणिन्दो वन्दे णिब्बुइ पत्तोवि जंबुवणगहने।।

मैं मथुरा के महावीर भगवान और अहिच्छत्र के पार्श्वनाथ भगवान् की वन्दना करता हूँ। मैं गहन जम्बुवन में निर्वाण प्राप्त करने वाले जम्बु मुनिराज की वन्दना करता हूँ।

जैन हरिवंशपुराण तथा महापुराण के अनुसार कृतयुग के आरम्भ में महाराजा ऋषभदेव ने 52 जनपदों की स्थापना की। उसमें एक शूरसेन जनपद भी था। राजा दशरथ के पुत्र शत्रुघ्न के प्रतापी पुत्र शूरसेन के कारण यह नाम और भी प्रसिद्ध हो गया। कृष्ण साहित्य में भी चौरासी वनों का उल्लेख आया है। उनमें एक अग्रवन था जो यमुना तट पर दूर तक फैला हुआ था। उसके एक ओर मथुरा नगरी थी और दूसरी ओर शौरीपुर। महाभारत काल में इन दोनों पर यदुवंशियों का आधिपत्य था। मथुरा नारायण श्रीकृष्ण की लीलाभूमि तथा शौरीपुर उनके चचेरे भाई तीर्थंकर नेमिनाथ की जन्म एवं कर्मभूमि थी। मथुरा और शौरीपुर दोनों ही उत्तर भारत के पावन सिद्ध क्षेत्र हैं।

मथुरा शूरसेन जनपद की राजधानी थी। प्राचीन साहित्य में मथुरा के अनेक नाम मिलते हैं जैसे— मधुपुरी, मधुपुर, मथुरा, मेहरा, मधुला, मधुलिका। कहा जाता है कि ये नाम राजा हरिवाहन के पुत्र राजा मधु के नाम पर पड़े। रावण पर विजय प्राप्त कर जब राम अयोध्या लौट रहे थे, तब उन्होंने अपने छोटे भाई शत्रुघ्न को मथुरा का राज्य दिया था। नारायण श्रीकृष्ण का जन्म भी यहीं हुआ था। अन्तिम केवली श्री जम्बू स्वामी द्वारा चौरासी वनों में से एक जम्बू वन में मोक्ष प्राप्त करने के कारण मथुरा पावन सिद्ध क्षेत्र बना। चौरासी की पावन भूमि पर निर्मित विशाल मन्दिर में श्री जम्बूस्वामी

के चरण स्थापित हैं। इस मन्दिर के सम्मुख श्वेत संगमरमर का ऊँचा मान-स्तम्भ है।

मथुरा के कंकाली टीला नामक स्थान से पुरातात्विक सामग्री का विपुल भण्डार प्राप्त हुआ है। कंकाली टीला मथुरा के दक्षिण-पश्चिम किनारे पर आगरा-गोवर्धन सड़क पर स्थित है। मथुरा में सन् 1888 से 1891 तक जो पुरातात्त्विक खुदाई की गई उसमें कंकाली टीला से अनेक बहुमूल्य कलाकृतियाँ प्राप्त हुईं। इनमें प्रमुख हैं–जैन स्तूप, आयागपट्ट, सर्वतोभद्रिका प्रतिमाएँ तथा अभिलेख। यहाँ ईंटों का स्तूप तथा दो प्राचीन मन्दिरों के अवशेष प्राप्त हुए थे। यह स्तूप पुरातात्त्विक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्व रखता है। आचार्य जिनप्रभ सूरि ने अपने 'विविधतीर्थकल्प' नामक ग्रन्थ में लिखा है कि सुपार्श्वनाथ के तीर्थकाल में धर्मरुचि और धर्मघोष नामक मुनियों के तप से प्रसन्न होकर देवी कुबेरा ने इस स्तूप की रचना की थी। कंकाली टीला की खुदाई से प्राप्त सामग्री में से अधिकांश इस समय मथुरा संग्रहालय में प्रदर्शित हैं। कतिपय पुरातात्त्विक वस्तुएँ, जो यहाँ खुदाई से प्राप्त हुई थीं, इस समय लखनऊ के संग्रहालय में हैं। मथुरा हिन्दुओं का भी प्राचीन महत्त्वपूर्ण तीर्थ है। मथुरा नगर के मध्य में द्वारकाधीश का विशाल मन्दिर है।

शूरसेन जनपद में भगवान महावीर का समवसरण आया था। उनके उपदेशों को सुनकर नगरश्रेष्ठी जिनदत्त के पुत्र अर्हद्दास, मथुरा के नरेश उदितोदय (भीदाम), उसके मन्त्री, राज्याधिकारी और अनेक नागरिक भगवान् महावीर के धर्मानुयायी बन गये थे। शौरीपुर (शौर्यपुर) में बाईसवें तीर्थंकर भगवान् नेमिनाथ के गर्भ और जन्म-कल्याणक हुए थे। इस विषय में हरिवंशपुराण में निम्न प्रकार से उल्लेख हैं–

जिनस्य नेमिस्त्रिदिवावतारतः, पुरैव षण्मासपुरस्सरा सुरैः।
प्रवर्तिता तज्जननावधिगृहे, हिरण्यवृष्टिः पुरुहूतशासनात्।।

भगवान नेमिनाथ के माता के गर्भ में आने से छः मास पूर्व से जन्म-पर्यन्त (पन्द्रह मास तक) इन्द्र की आज्ञा से शौरीपुर के राजा समुद्रविजय के घर देवों ने रत्नों की वर्षा की।

सउरीपुरम्मि जादों सिवदेत्रीए समुद्दविजएण।
वइसाह तेरसीए सिदाए चित्तासु णेमिजिणो।। –(तिलोयपण्णत्ति)

शौरीपुर में माता शिवादेवी तथा पिता समुद्रविजय से वैशाख शुक्ल पक्ष, त्रयोदशी को चित्रा नक्षत्र में नेमि जिनेन्द्र उत्पन्न हुए।

शौरीपुर में अनेक जैन मुनियों को केवलज्ञान तथा निर्वाण प्राप्त हुआ, इसके उल्लेख पौराणिक साहित्य में उपलब्ध होते हैं। यहाँ श्रीधन्य, यम, विमलासुत, अलसत्कुमार केवलियों को निर्वाण प्राप्त हुआ था। यहाँ मुनिराज सुप्रतिष्ठ को केवलज्ञान की प्राप्ति हुई थी। भगवान ऋषभदेव, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर के पावन विहार से यह भूमि पवित्र हुई थी। यह स्थान दानी कर्ण की जन्मभूमि है। प्रसिद्ध दार्शनिक आचार्य प्रभाचन्द्र के गुरु आचार्य लोकचन्द्र यहीं हुए थे। अनुश्रुति है कि आचार्य प्रभाचन्द्र ने 'प्रमेय कमलमार्तण्ड' का प्रणयन यहीं किया था। इस प्रकार शौरीपुर केवल गर्भ, जन्म और ज्ञानकल्याणक भूमि ही नहीं अपितु निर्वाणभूमि भी है।

हरिवंश में यदु नामक प्रतापी राजा हुआ। इस यदु से ही यदुवंश चला। यदु का पुत्र नरपति हुआ। नरपति के दो पुत्र थे– शूर और सुवीर। सुवीर मथुरा का राजा बना और शूर ने शौरीपुर बसाया। शूर से अन्धकवृष्णि तथा सुवीर से भोजकवृष्णि हुए। शौरीपुर कुशद्य देश की राजधानी और समृद्ध नगरी थी। कुशद्य छोटा-सा जनपद था जिसकी राजधानी शौरीपुर थी। शौरीपुर के राजा अन्धकवृष्णि की पत्नी सुभद्रा से दस पुत्र तथा दो पुत्रियाँ हुईं। पुत्रों के नाम थे– समुद्रविजय, अक्षोम्य, स्तमित सागर, हिमवान्, विजय, अचल, धारण, पूरण, अभिचन्द्र और वसुदेव। पुत्रियों के नाम थे– कुन्ती और माद्री। मथुरा के राजा भोजकवृष्णि की पत्नी पद्मावती से तीन पुत्र हुए– उग्रसेन, महासेन और देवसेन। बाद में अन्धकवृष्णि और भोजकवृष्णि दोनों चचेरे भाइयों ने सुप्रतिष्ठ केवली से मुनिदीक्षा ग्रहण कर ली। इसके पश्चात् मथुरा का शासन उग्रसेन ने और शौरीपुर का शासन समुद्रविजय ने सँभाला। उग्रसेन के कंस नामक पुत्र तथा देवकी और राजीमती (राजुलमती) नामक पुत्रियाँ हुईं। समुद्रविजय की पत्नी शिवा देवी से नेमिनाथ हुए और समुद्रविजय के सबसे छोटे भाई वसुदेव से बलराम और कृष्ण हुए। बलराम और कृष्ण क्रमशः अन्तिम बलभद्र और नारायण थे। इनके उत्पन्न होने के पहले से ही शौरीपुर का प्रभाव बढ़ने लगा था। कंस ने अपने पिता उग्रसेन को कारागार में डाल दिया था। उस युग में राजगृह का राजा जरासन्ध सबसे अधिक प्रभावशाली था। जरासन्ध ने अपनी पुत्री जीवद्यशा का विवाह वसुदेव के कहने से कंस के साथ कर दिया। वसुदेव के प्रति अपनी कृतज्ञता को ज्ञापित करते हुए कंस ने अपनी बहन देवकी का विवाह वसुदेव से कर दिया। कंस के अत्यन्त आग्रह के कारण वसुदेव और देवकी मथुरा रहने लगे। वस्तुतः उस समय मथुरा और शौरीपुर राजगृह के अधिपति जरासन्ध के माण्डलिक राज्य थे। जब कंस को यह पता चला कि उसका अंत कृष्ण के द्वारा होगा तो उसने कृष्ण को मारने के लिए अनेक बार असफल प्रयास किए। उसने कृष्ण को मल्लयुद्ध के लिए मथुरा आमन्त्रित किया। मथुरा में कृष्ण ने कंस के मल्लों को पराजित कर कंस का अंत कर दिया। इससे यादवों का राज्य एक प्रचण्ड शक्ति बना और मथुरा उसका केन्द्र था। उस समय भी समुद्रविजय शौरीपुर में शासन कर रहे थे।

जब जरासन्ध की ओर से मथुरा में आक्रमण होने लगे, तब वृष्णिवंश और भोजवंश के प्रमुख पुरुषों ने निश्चय किया कि इस समय हम लोगों के लिए पश्चिम दिशा की ओर जाकर कुछ दिनों तक चुप बैठे रहना ही उचित है। ऐसा करने से निस्सन्देह कार्यसिद्धि होगी। तदनुसार लोगों ने मथुरा और शौरीपुर से प्रस्थान कर दिया। मथुरा, शौरीपुर और वीर्यपुर की प्रजा ने राजा के प्रति अनुराग के कारण उनके साथ ही प्रस्थान कर दिया। उस समय अपरिमित धनयुक्त अठारह कोटि यादव शौरीपुर से बाहर चले गये थे। इस निष्क्रमण के बारे में आचार्य जिनसेन ने हरिवंशपुराण में लिखा है–

माधुर्यः शौरपुर्यश्च वीर्यपुर्यः प्रजास्तदा।
समं स्वाम्यनुरागेण स्वयमेव प्रतस्थिरे।।

अष्टादशेति संख्याताः कुलकोट्यः प्रमाणतः।
अप्रमाणधनाकीर्णा निर्यान्ति स्म यदुप्रियाः।। –(हरिवंशपुराण, 40/21-23)

इस निष्क्रमण के समय भगवान नेमिनाथ बाल्यावस्था में ही थे। यादवों ने पश्चिम तट पर जाकर द्वारिका नगरी बसायी। भोजवंशी उग्रसेन को गिरिनगर का राज्य दे दिया। गए हुए यदुवंशी पुनः शौरीपुर अथवा मथुरा नहीं लौटे। जिस समय यदुवंशियों ने मथुरा तथा शौरीपुर से पश्चिम समुद्रतट की ओर निष्क्रमण किया उस समय अरिष्टनेमि की बाल्यावस्था ही थी। यदुवंशियों के द्वारिका में बस जाने के पश्चात् अरिष्टनेमि भी बढ़ने लगे। वे अद्भुत शक्तिसम्पन्न थे। श्रीकृष्ण-जरासन्ध युद्ध के समय वे श्रीकृष्ण के साथ थे। श्रीकृष्ण आयु में अरिष्टनेमि से बड़े थे। श्रीकृष्ण ने ही भोजवंश की राजकुमारी राजीमति (राजुल) से श्री नेमिनाथ का विवाह निश्चित कराया था। जब श्री नेमिनाथ वैवाहिक अनुष्ठान के लिए बारात के साथ जा रहे थे, तब उन्होंने एक बाड़े में अनेक पशु-पक्षियों को बारात के भोज के लिए एकत्रित देखा। प्राणि-हिंसा की कल्पना मात्र से उन्हें सांसारिक भोगों से विरक्ति हो गई। उन्होंने वर का वेष त्याग कर मुनिदीक्षा ग्रहण कर गिरनार शिखर पर घोर तप किया। तप करने पर उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हुआ। केवलज्ञान के पश्चात् समवसरण की रचना हुई और दिव्यध्वनि खिरी। अनेक लोगों ने दीक्षा ग्रहण की। राजीमति ने भी आर्यिका दीक्षा ली। अपने विहार में वे अनेक बार गिरनार तथा द्वारिका पधारे। उन्होंने प्राणियों को मोक्ष का मार्ग दिखाया अन्त में उन्होंने मोक्ष प्राप्त किया।

घोर आंगिरस की शिक्षाओं का जैन सिद्धान्तों के साथ साम्य के कारण अनेक विद्वानों का मत है कि छान्दोग्योपनिषद् में वर्णित श्रीकृष्ण के आध्यात्मिक गुरु घोरआंगिरस तथा जैन परम्परा के बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ एक ही व्यक्ति हैं।

महाभारत के पश्चात् मथुरा, शौरीपुर, वीर्यपुर आदि नगर पाण्डवों के अधिकार में आ गये। यद्यपि समय-समय पर मथुरा पाश्चाद्वर्त्ती इतिहास में अपना प्रभाव दिखाता रहा परन्तु शौरीपुर कदाचित् कोई निर्णायक भूमिका नहीं निभा सका। शौरीपुर नगरी उजाड़प्राय हो गई परन्तु गौण रूप से बनी भी रही। वह भगवान् नेमिनाथ की गर्भ और जन्मभूमि के रूप में पूजी जाती रही। वसुदेव की प्रथम पत्नी और बलराम की माता रोहिणी के सतीत्व की परीक्षा भी शौरीपुर में हुई थी। मध्ययुग में शौरीपुर का सम्बन्ध मुनि लोकचन्द्र से रहा। कालान्तर में यहाँ भट्टारकीय पट्ट स्थापित हुआ। उसमें सोलहवीं शती के प्रारम्भ तक क्रमशः ललितकीर्ति, धर्मकीर्ति, शीलभूषण, ज्ञानभूषण, जगत्भूषण, विश्वभूषण, देवेन्द्र भूषण, सुरेन्द्र भूषण, लक्ष्मी भूषण, जिनेन्द्र भूषण, महेन्द्र भूषण, राजेन्द्र भूषण, हरेन्द्र भूषण और यति रामपाल नामक भट्टारक हुए। इन भट्टारकों ने शौरीपुर, बटेश्वर, हथिकान्त तथा समीपवर्ती अन्य नगरों एवं ग्रामों में अनेक मन्दिरों का निर्माण कराया, अनेक प्रतिष्ठाएँ कराईं तथा स्वयं, अपने शिष्यों और आश्रित विद्वानों से साहित्य का सृजन करवाया। अपनी सिद्धियों और चमत्कारों से इन भट्टारकों ने जनता को प्रभावित किया।

19वीं शती के प्रथमपाद में कर्नल टाड ने शौरीपुर की प्राचीनता के विषय में सुना। उन्होंने यहाँ से हीरा आदि रत्नों की प्राप्ति के विषय में भी सुना। कर्नल टाड ने अपने मुद्रासंग्राहक को शौरीपुर भेजा। उसने शौरीपुर से उन्हें अपोलोडोटस और पार्थियन राजाओं के अनेक सिक्के लाकर दिए। इससे यह ज्ञात हुआ कि शौरीपुर नगर ई.पू. तीसरी शती में व्यापारिक केन्द्र था। बेक्ट्रियन वंश के यूनानी राजा अपोलोडोटस और पार्थियन वंशी राजाओं का समय ई.पू. दूसरी-तीसरी शती माना जाता है। सम्भवतः उनके सिक्के व्यापार के उद्देश्य से यहाँ लाए गए होंगे।

सन् 1870-71 में जनरल कनिंघम के सहकारी ए.सी.एल. कार्लाइल शौरीपुर आए और उन्होंने यहाँ के खँडहरों का सर्वेक्षण किया। इस सर्वेक्षण से यह सिद्ध हुआ कि शौरीपुर का सम्बन्ध जैनों के साथ कभी नहीं टूटा। वे सदैव उसे अपना पवित्र तीर्थ मानकर उसकी यात्रा करते रहे। सन् 1924 के लगभग भट्टारकों के अन्तिम उत्तराधिकारी यति रामपाल की हत्या हो जाने के पश्चात् आगरा के जैनों ने शौरीपुर तीर्थक्षेत्र कमेटी गठित की जो तब से आज तक इस क्षेत्र का प्रबन्ध कर रही है। कार्लाइल ने शौरीपुर के भग्नावशेषों के विषय में लिखा है कि यहाँ के लोगों में एक किम्वदन्ती प्रचलित है कि एक बार प्राचीन काल में एक रानी यहाँ से जा रही थी। उसने सामने स्थित भवनों के विषय में पूछा कि ये भवन कैसे हैं। जब उसे यह ज्ञात हुआ कि ये भवन जैनों के हैं तो उसने आज्ञा दे दी कि इन्हें नष्ट कर दिया जाए। उसकी आज्ञानुसार सारे भवन और मन्दिर नष्ट कर दिए गए। कार्लाइल के इस विवरण से यह अवश्य ज्ञात होता है कि शौरीपुर किसी समय जैनों का प्रसिद्ध नगर था और वह किसी कारण नष्ट हुआ/किया गया। कार्लाइल को शौरीपुर में एक गड्ढे से पद्मासन में विराजमान एक जैन प्रतिमा प्राप्त हुई थी। वह बलुआ पाषाण की थी। उसके निम्न भाग में दोनों ओर परिचर थे और शीर्ष भाग पर दोनों ओर हस्ती थे। मूर्ति का आकार 2 फीट का था। मूर्ति अनभिलिखित थी। कार्लाइल को शौरीपुर में एक मन्दिर की दीवार में एक शिलालेख मिला था। मन्दिर के निचले भाग से उन्हें तीन विशाल पद्मासनस्थ जैन मूर्तियाँ प्राप्त हुईं। बड़ी मूर्ति पर विक्रम संवत् 1082 या 92 पढ़ा गया। यह ग्यारहवीं शती की मूर्ति है। शेष दोनों प्रतिमाएँ इसके समकालीन रही होंगी। कहा जाता है कि शौरीपुर में कोई तहखाना है जहाँ अनेक प्राचीन मूर्तियाँ और पुरावशेष रखे हैं। कार्लाइल इस स्थल की खुदाई करवाने में असफल रहे। वहाँ कुदाली भी काम न कर सकी। शौरीपुर के नाले में और उसके आसपास खुदाई करने पर कार्लाइल को प्राचीन जैन मन्दिरों के अवशेष प्राप्त हुए। मन्दिरों के पीछे भरी हुई प्राचीन नींव संभवतः किसी निर्माणाधीन मन्दिर की रही होगी। उसमें ईंटों का प्रयोग हुआ है। कार्लाइल को एक टीले पर अनेक मूर्तियों के अवशेष पड़े हुए तथा दबे हुए मिले। इससे ज्ञात होता है कि प्राचीन काल में यहाँ अनेक मन्दिर रहे होंगे। इन टीलों और खाइयों में यहाँ की कला-सामग्री छिपी पड़ी है। कार्लाइल को एक मोटी प्राचीन दीवार, सुरंग, गोद में शिशु

लिये पद्मावती की मूर्ति, सर्वतोभद्रिका प्रतिमा, भगवान् पार्श्वनाथ की प्रतिमाएँ और अन्य सामग्री मिलीं, जो अधिकांशतः जैन हैं। इससे यह ज्ञात होता है कि यह स्थान अति प्राचीन काल से जैन धर्म का प्रमुख केन्द्र रहा है। कार्लाइल द्वारा शौरीपुर में किए गए उत्खनन में कतिपय मूर्तियाँ निकली थीं, जो लखनऊ संग्रहालय में विद्यमान हैं। इनमें बटेश्वर से प्राप्त कतिपय सर्वतोभद्रिका प्रतिमाएँ भी हैं।

जैन मान्यता के अनुसार शौरीपुर का इतिहास महाभारत काल से भी कुछ पहले से प्रारम्भ होता है। इस मान्यता का समर्थन भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण द्वारा मार्च सन् 1972 में किए गए सर्वेक्षण से भी होता है। भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण के अधिकारी श्री जगदीश सहाय निगम ने शौरीपुर, बटेश्वर आदि स्थानों का सर्वेक्षण किया था। उन्हें इस क्षेत्र में महाभारतकालीन मिट्टी के बर्तनों के अवशेष प्राप्त हुए थे। पुरातत्त्वीय शब्दावली में इन्हें 'पेण्टेड ग्रे वेयर' कहा जाता है। इनका समय महाभारत काल अर्थात् 1500 से 1000 वर्ष ई.पू. अनुमानित किया गया है। दूसरे अवशेष मौर्यकालीन मिट्टी के बर्तनों के हैं। इन्हें एन.बी.पी. या नोर्दन ब्लैक पॉलिश्ड वेयर कहा जाता है। इनका समय 600 ई.पू. से 200 ई.पू. तक है। इस प्रकार इस सर्वेक्षण से यह ज्ञात हो चुका है कि शौरीपुर क्षेत्र में महाभारत काल से मौर्यकाल तक संस्कृति फली-फूली। इस काल में यह नगर अत्यन्त समृद्ध था परन्तु यह वैभव और सांस्कृतिक समृद्धि अब टीलों के नीचे दबी पड़ी है।

शौरीपुर तीर्थक्षेत्र कमेटी ने पहले आदि मन्दिर के दक्षिण की ओर स्थित एक टीले की खुदाई कराई थी जिसमें अनेक मूर्तियाँ मिली थीं। एक बार आदि मन्दिर का जीर्णोद्धार करते समय एक प्राचीन जैन मन्दिर का पलस्तरयुक्त नीचे का भाग मिला था, उसमें एक शिलालेख भी मिला था। इसमें वि.सं. 1224 में इस मन्दिर के जीर्णोद्धार के विषय में लिखा है। प्राचीन शौरीपुर धीरे-धीरे उजड़ गया। वर्तमान में प्राचीन शौरीपुर के ध्वंसावशेष ही बचे हैं। इन अवशेषों में जैन मन्दिर प्रमुख हैं।

दिगम्बर जैन मन्दिर

इन मन्दिरों में सबसे प्राचीन दिगम्बर जैन मन्दिर है। समय-समय पर इसका जीर्णोद्धार किया गया है। इसे आदि मन्दिर (बरुआ मठ) भी कहते हैं। यह मन्दिर संवत् 1724 (सन् 1667) में भट्टारक विश्वभूषण द्वारा निर्मित एवं प्रतिष्ठापित कराया गया था। इस बात का उल्लेख इस मन्दिर के भीतर पीठिका की दीवार पर निम्नलिखित शिलालेख में है– "श्रीमूलसंघे बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे श्री कुन्दकुन्दाचार्यान्वये श्री जगतभूषण श्री भ. विश्वभूषणा देवाः स्वरीपुर (शौरीपुर) में (क्षेत्रे) जिनमन्दिर प्रतिष्ठा संवत् 1724 वैशाख वदी 13 को कारापिता।"

यह शौरीपुर क्षेत्र का दुमंजिला मन्दिर है और यह सबसे प्रमुख है। यह मन्दिर कुछ सीढ़ियाँ चढ़कर है। यहाँ की कतिपय मूर्तियाँ चोरी चली गई और कुछ मध्य मन्दिर में विराजमान कर दी गई। सन् 1953 में आगरा के स्वर्गीय सेठ श्री सुमेरचन्दजी बारोल्या ने इसमें काले पाषाण की भगवान् नेमिनाथ की प्रतिमा स्थापित कराई। यह प्रतिमा

बहुत सुन्दर है और कायोत्सर्ग मुद्रा में खड्गासन में खड़ी है। यह आठ फुट ऊँची है। नेमिनाथ के सिर पर पाषाण का छत्र है। इसका प्रभामण्डल कलापूर्ण है। पादपीठ पर आमने-सामने दो सिंहों का तथा बीच में लांछन शंख का अंकन है।

शंखध्वज मन्दिर :– शंखध्वज मन्दिर दूसरी मंजिल पर है। इसमें सामने वाले गर्भगृह में चार वेदियाँ हैं। मूलनायक भगवान नेमिनाथ मध्य की वेदी में विराजमान हैं। नेमिनाथ के अतिरिक्त इस वेदी में तीर्थंकर मुनिसुव्रतनाथ, चन्द्रप्रभ, शान्तिनाथ तथा आदिनाथ की अभिलिखित मूर्तियाँ विराजमान हैं। मुनिसुव्रतनाथ की मूर्ति के पादपीठ पर विक्रम संवत् 2010 अभिलिखित है। इसी प्रकार चन्द्रप्रभ की पादपीठ पर श्री वीरसंवत् 2480 शान्तिनाथ के पादपीठ पर वीर संवत् 2520 तथा आदिनाथ के पादपीठ पर विक्रम संवत् 1884 अभिलिखित है। नेमिनाथ के पीछे बाईं ओर की वेदी में एक खड्गासन प्रतिमा है। इसके चरणों के निकट दोनों ओर चामरवाहक खड़े हैं। इस मूर्ति पर शंखलांछन उत्कीर्ण है। यह प्रतिमा अनुमानतः 11-12वीं शताब्दी की है। दायीं ओर भी दो वेदियाँ हैं। दोनों में ही एक-एक प्रतिमा विराजमान है। बायीं ओर के गर्भालय में एक वेदी है। इसमें श्वेत पाषाण की पद्मासन प्रतिमा है। पादपीठ पर सूकर बना होने के कारण यह भगवान विमलनाथ की प्रतिमा है। इसी गर्भालय में एक अन्य वेदी में बाहुबली स्वामी की एक खड्गासन प्रतिमा प्रतिष्ठित है। यह आधुनिक है। दायीं ओर के गर्भालय में वेदी में श्वेत पाषाण की एक पद्मासन प्रतिमा विराजमान है। इस प्रतिमा के दोनों ओर चन्द्रप्रभ की एक-एक आधुनिक प्रतिमा रखी है।

पंचमढ़ी :– शंखध्वज मन्दिर के दाहिनी ओर एक परकोटे में तीन प्राचीन टोंकें और चार छतरियाँ स्थित हैं। यह स्थान पंचमढ़ी कहा जाता है। यहाँ मैदान में तीन मूर्तियाँ रखी हुई थीं, जो अब जैन मन्दिर बटेश्वर में सुरक्षा के लिए पहुँचा दी गई हैं। ये तीनों मूर्तियाँ बलुए पत्थर की बनी हैं और खण्डित हैं। इन तीनों मूर्तियों में से किसी पर कोई लेख नहीं है। इन मूर्तियों का निर्माण काल शैलीगत आधार पर ग्यारहवीं-बारहवीं शती के लगभग प्रतीत होता है। इनमें से एक तीर्थंकर मूर्ति के पादपीठ पर वृषभलांछन होने के कारण यह आदिनाथ की है। आदिनाथ के केश दोनों कंधों पर लटक रहे हैं। एक छतरी में यममुनि के चरण बने हैं। एक अन्य छतरी में धन्यमुनि के चरण अंकित हैं। दक्षिण की ओर की एक छतरी में भी एक मुनि के चरण स्थापित हैं। दो प्राचीन टोंकें इस समय खाली हैं। बीच में एक ऊँचीं टोंक है। इसकी वेदी के आगे चरण बने हैं। जहाँ विक्रम संवत् 1828 का लेख उत्कीर्ण है। इसमें इस बात का उल्लेख किया गया है कि संवत् 1828 कार्तिक सुदी शनिवार को भट्टारक जिनेन्द्र भूषण के उपदेश से ये चरण स्थापित किये गये हैं। यह टोंक दो मंजिली है। पंचमढ़ी के पीछे दक्षिण की ओर अन्तःकृत केवली धन्य की प्राचीन टोंक है। एक मन्दिर में भगवान् नेमिनाथ की प्रतिमा विराजमान है। शौरीपुर मूलतः दिगम्बर जैन तीर्थ है। यहाँ की प्राचीन मूर्तियाँ, मन्दिर एवं चरण दिगम्बर परम्परा के हैं। यह क्षेत्र मूलसंघाम्नायी भट्टारकों का है।

हतकान्त (हस्तिकान्तपुर) :– हतकान्त एक ऐतिहासिक नगर रहा है। यहाँ 51 प्रतिष्ठाएँ हुई थीं। कहा जाता है कि फिरोज तुगलक ने हतकान्त पर आक्रमण कर यहाँ के मन्दिरों को नष्ट किया था। यहाँ इस समय जो मन्दिर विद्यमान है वह बाद में भट्टारकों द्वारा बनवाया गया है। यह दो मंजिला है और विशाल है।

बटेश्वर :– भट्टारक जगत्भूषण तथा विश्वभूषण की परम्परा में अठारहवीं शती में भट्टारक जिनेन्द्रभूषण हुए। ये मन्त्रवेत्ता और सिद्धपुरुष थे। बटेश्वर का दिगम्बर जैन मन्दिर उनके आग्रह पर बनवाया गया था। बटेश्वर का यह दिगम्बर जैन मन्दिर भदौरिया महाराज बदनसिंह द्वारा निर्मापित घाट के ऊपर विक्रम संवत् 1838 में बनवाया गया था। यह चार मंजिल का है। इसकी दो मंजिलें जमीन के नीचे हैं और दो ऊपर हैं। इस मन्दिर का वास्तुशिल्प अद्भुत है। इस मन्दिर में चन्देल राजा परमर्दिदेव के विख्यात सेनानी आल्हा-ऊदल के पिता जल्हण द्वारा वैशाख वदी 7 संवत् 1224 (ई. 1176) में प्रतिष्ठापित तीर्थंकर अजितनाथ की सुन्दर मूर्ति है। यह मूर्ति महोबा से यहाँ लाई गई कही जाती है। यह प्रतिमा काले पत्थर की बनी हुई है और पद्मासन में विराजमान है। यह पाँच फुट ऊँची है। यह मनियारदेव के नाम से प्रसिद्ध है। यह मूर्ति अत्यन्त प्रभावशाली है। इसके आसपास 22 धातु प्रतिमाएँ विराजमान हैं। इस मुख्यवेदी के दाहिनी ओर के गर्भगृह में एक वेदी के मध्य में एक शिलाफलक पर भगवान शान्तिनाथ की कायोत्सर्गमुद्रा में खड्गासन प्रतिमा है। यह चार फुट ऊँची है। इसके परिकर में दोनों ओर एक खड्गासन जिन प्रतिमा है। इस मूर्ति के दायीं और बाईं ओर दो अन्य पद्मासन जिन प्रतिमाएँ हैं। चरणों के नीचे दो भक्त बैठे हुए हैं, दो चामरवाहक इन्द्रपार्श्व में खड़े हैं। तीर्थंकर के सिर पर पाषाण की छत्रत्रयी है। ऊपर मृदंगवादक बैठे हैं। पादपीठ पर हिरण उत्कीर्ण है। यह मूर्ति अभिलिखित है। इस मूर्ति का प्रतिष्ठाकाल वि.सं. 1150 वैशाख वदी 2 है। इस मूर्ति के दाहिनी ओर शौरीपुर में खुदाई से प्राप्त एक अन्य पद्मासन तीर्थंकर प्रतिमा है। मुख्य वेदी के बाईं ओर की वेदी में भगवान नेमिनाथ की प्राचीन प्रतिमा, जो शौरीपुर से खुदाई में प्राप्त हुई थी, विराजमान है।

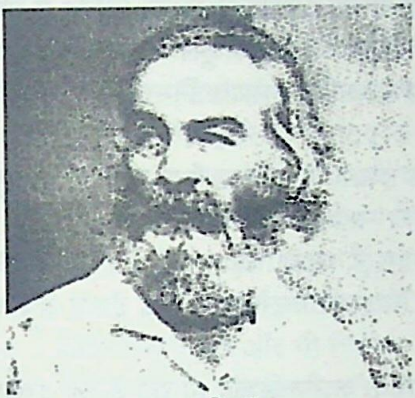
शौरीपुर के वैभवकाल में बटेश्वर शौरीपुर का एक उपनगर था। धीरे-धीरे शौरीपुर वीरान होता गया और बटेश्वर का महत्त्व बढ़ने लगा। भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण विभाग द्वारा किए गए सर्वेक्षण में शौरीपुर बटेश्वर क्षेत्र से मौर्य-कुषाण कालीन अवशेषों का पता चला है। इस क्षेत्र से उत्खनन में अनेक मूर्तियाँ, बृहदाकार ईंटें तथा अन्य पुरातात्विक सामग्री मिली हैं। इस सामग्री का कुछ भाग बटेश्वर जैन मन्दिर पर उपलब्ध है। शौरीपुर से खुदाई में प्राप्त एक शिला-पट्ट पर चार बैठी हुई मूर्तियों का अंकन है। ये मूर्तियाँ यक्ष तथा यक्षियों की हैं। यह शिलापट्ट बटेश्वर जैन मन्दिर में रखा है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मथुरा, शौरीपुर, हतकान्त तथा बटेश्वर ने जैनधर्म, कला और संस्कृति को प्राचीन काल से आज तक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है।

❖❖

जैनदर्शन और वाल्टर ह्विटमैन

✍ डॉ. वीरसागर जैन



वाल्टर ह्विटमैन

जैनदर्शन इस विश्व की एक अत्यन्त प्राचीन व्यापक एवं समृद्ध विचारधारा रही है। प्रामाणिकता, परीक्षाप्रधानता, उदारता, समन्वयशीलता, अहिंसाप्रियता आदि विशेषताओं के कारण जैनदर्शन ने विश्व के कोने-कोने में पहुँचकर असंख्य चिन्तकों को प्रभावित किया है। प्रतीत होता है कि जिसने भी निष्पक्ष होकर एक बार जैनदर्शन को पढ़ा-समझा है वह जैनदर्शन से प्रभावित हुए बिना नहीं रहा है, चाहे वह किसी भी भाषा, क्षेत्र, व्यवसाय से ही सम्बन्धित क्यों न रहा हो। ऐसे विविध भाषा-भाषी और विभिन्न क्षेत्र निवासी राजाओं, मन्त्रियों, व्यापारियों, कवियों, लेखकों आदि की एक ऐसी लम्बी सूची तैयार की जा सकती है जो जैनधर्म-दर्शन से हृदय से प्रभावित हुए हैं और जिन्होंने अपने कार्यों द्वारा यथाशक्ति उसके प्रचार-प्रसार में भी अपना अमूल्य योगदान दिया है। यहाँ हम इसी सन्दर्भ में एक विश्वविख्यात अंग्रेजी कवि वाल्टर ह्विटमैन (Walter Whitman) का उदाहरण प्रस्तुत करना चाहते हैं।

वाल्टर ह्विटमैन अमेरिका के एक अत्यन्त विख्यात कवि, निबन्धकार, पत्रकार, सम्पादक और अध्यापक रहे हैं, जिनका समय 31 मई 1819 से लेकर 26 मार्च 1892 तक है। उन्होंने अनेक महत्त्वपूर्ण कृतियों की रचना की है, जिनमें से निम्नलिखित चार विशेष उल्लेखनीय हैं :–

1. लीव्स ऑफ ग्रास (Leaves of Grass)
2. ड्रम टेप्स (Drum Taps)
3. सान्ग्स ऑफ माईसेल्फ (Song of Myself)
4. मेमोरेण्डा ड्यूरिंग द वार (Memoranda During the War)

इनमें भी 'लीव्स ऑफ ग्रास' सम्पूर्ण अमेरिकन कविता में इतना अधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता है कि उसके कारण वाल्टर ह्विटमैन को समालोचकों ने अमेरिकन कवियों में सर्वोत्तम "Greatest of all American Poets" कहा गया है।

वाल्टर ह्विटमैन की कविताओं में स्थान-स्थान पर जैनदर्शन और अध्यात्म की मौलिक अवधारणाओं का गहन समावेश प्राप्त होता है। जिससे यह भलीभाँति ज्ञात होता है कि वाल्टर ह्विटमैन जैनदर्शन और अध्यात्म के न केवल बहुत अच्छे जानकार थे, अपितु हृदय की गहराइयों तक उससे प्रभावित थे और इसीलिए उनकी अनेकानेक कविताएँ जैन अध्यात्म से ओत-प्रोत दिखाई देती हैं। वाल्टर ह्विटमैन के 'लीव्स ऑफ ग्रास' की कुछ कविताओं में तो इतना अधिक जैनदर्शन निहित है कि उन कविताओं को जैन अवधारणाओं को समझे बिना बिलकुल नहीं समझा जा सकता। उदाहरणार्थ उनकी 'लीव्स ऑफ ग्रास' कविता मुख्यतः निम्न जैन सिद्धान्तों की व्याख्या प्रस्तुत करती है :–

1. जीव यद्यपि अनादिकाल से शरीर से इच्छा के कारण बँधा हुआ है, परन्तु स्वभावतः वह साक्षात् परमात्मा है। जीव, सर्वज्ञ और सर्वदर्शी है।
2. आध्यात्मिक क्षेत्र में सभी जीव एक समान हैं, परन्तु व्यवहार में अपने कर्मों के स्वयं कर्त्ता और भोक्ता हैं। उनके ऊपर नियन्त्रण करने वाला कोई ईश्वर अथवा अदृष्ट नहीं है।
3. अनादिकाल से जीव कर्मों से आबद्ध होने के कारण अशुद्ध हो रहा है, जो इच्छा को जीतकर शुद्ध हो सकता है।
4. जब सब जीव एक समान हैं, अतः जो बात एक व्यक्ति के लिए अप्रिय है, वही सभी व्यक्तियों के लिए अप्रिय होगी; इसीलिए अहिंसा ही परम धर्म है।
5. निर्वाण ही परम धर्म है, जिसको प्राप्त करने के लिए आत्मविजयी होना परम आवश्यक है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि यह सभी अवधारणाएँ जैनदर्शन के मौलिक सिद्धान्तों पर ही आधारित हैं। प्रत्येक आत्मा को समान एवं स्वतन्त्र कहना, उसे स्वभाव से परमात्मा मानकर पर्याय में भी परमात्मा बन जाने की बात कहना और अन्य किसी कर्ता-धर्ता ईश्वर को नहीं मानना —ये ही तो जैनदर्शन की विशेषताएँ हैं।

वाल्टर ह्विटमैन 'लीव्स ऑफ ग्रास' नामक कविता में स्पष्ट लिखते हैं–

"एक बालक ने पूछा— घास है क्या?
बालक को मैं क्या उत्तर दूँ?
मैं तो यह जानता हूँ कि यह वही है,
मुझे लगता है कि हरी वनस्पति के रूप में
वह मेरे ही स्वभाव का ध्वज है।"

इतना ही नहीं, घास से भी आगे बढ़कर वे सभी पशु-पक्षियों में अपना ही रूप देखते हुए अन्यत्र लिखते हैं :–

"ये फुदकते गुंफेदार पूँछ वाले पशु,
और, ये उड़ते हुए पतंगे,
निश्चय ही, अरे,
पतंगे नहीं हैं;
वे तो मेरे ही दूसरे रूप हैं।
उनमें कमजोर से कमजोर
और हीन से भी हीन,
मेरे ही साथ मेरी तरह अमर है।"

इसीप्रकार जैनों के समयसारादि आध्यात्मिक ग्रन्थों के अनुरूप ही वाल्टर ह्विटमैन ने भी स्वयं को ही स्वभाव से अनन्त शक्तिशाली परमात्मा माना है जैसा कि उनके निम्न पद से भली प्रकार प्रकट है–

"सांत्वना प्रदायक महान कोमल, भव्य
आगे बढ़ता हुआ, करुण वरद हस्त को फैलाए,
महान शक्तिशाली परमात्मा मैं हूँ।"

आगे उन्होंने इसे और भी निश्चय नय की शैली में ही स्पष्ट करते हुए कहा है–

"मैं किसी की प्रभावना के गीत नहीं गाता,
और न ईश्वर के गीत गाता,
बल्कि मैं तुम्हारी प्रभावना के गीत गाने
का इच्छुक हूँ।"

"मैं ही अकेला वह हूँ, जो तुम्हारे ऊपर किसी
मालिक, स्वामी, ईश्वर को स्थापित नहीं करता;
अरे वही तो ईश्वर है, जो तुम्हारे अन्तर में
छुपा हुआ है।"

इसीप्रकार वाल्टर ह्विटमैन ने ईश्वर को भी अपनी आत्मा से बड़ा नहीं माना, क्योंकि हमारा भला-बुरा हम स्वयं करते हैं, कोई दूसरा ईश्वर नहीं। वे लिखते हैं—

"………अरे नहीं, कुछ भी नहीं ईश्वर भी नहीं,
व्यक्ति के लिए उसकी अपनी आत्मा से बड़ा
कोई नहीं है।
"इसीलिए, मैं मानव-समाज से कहता हूँ–
ईश्वर के लिए कौतूहल न दिखाओ,
मुझे परमात्मा सर्वत्र दिखता है; पर बुद्धि

से वह समझ नहीं आता !
मैं कैसे मानूँ कि मेरी आत्मा से बढ़कर भी
कोई है।"

इसीप्रकार सल्लेखना या समाधिमरण जैन ग्रन्थों का अत्यंत प्रमुख विषय है। लगता है इस अमेरीकी कवि ने जैन ग्रन्थों में इसका भी सूक्ष्म अध्ययन किया था और वह उससे प्रभावित भी बहुत हुआ। जैनों की भाँति वाल्टर ह्विटमैन ने भी मृत्यु को एक महोत्सव माना है। क्योंकि उसके अनुसार आत्मज्ञानी मानव निःशंक और निःकांक्षी हो जाता है। वह मृत्यु से भी नहीं डरता। इसलिए वाल्टर ह्विटमैन लिखते हैं :–

"अरी ओ मृत्यु ! तू मर्त्यत्व की कटुता है,
मुझे तू क्या डराएगी;
"ऐ मेरे भाइयो और बहनो, क्या तुम यह नहीं देखते,
अरे यह मरण कहां है? यह एक व्यवस्था है?
यह अमर जीवन का प्रवाह है–यही तो सुख है।
भूत, भावी और वर्तमान—
मैंने उनको भर-भर कर खाली किया है;
और अब आगे अपने दूसरे भव को
भरने के लिए बढ़ रहा हूँ।"

जैनों की तरह वाल्टर ह्विटमैन का भी कर्म और आवागमन में दृढ़ विश्वास था। उनके अनुसार जीव कर्मों को जीत कर आवागमन से मुक्त हो जाता है। उन्होंने इस विषय में भी साफ-साफ कहा है :–

"गत काल की विधि को झुठला
नहीं सकते,
वर्तमान और भावी विधि को भी धोखा
नहीं दे सकते;
जीवन-विधि को भी झुठला नहीं सकते,
वह शाश्वत है।"

और भी देखिए :–

"अरे ! यह वर्ष नहीं है, हम हैं आप हैं,
हम ही सब विधि चाहते हैं
और भूत का लेखा-जोखा जोहते हैं;
अरे ! हम तो आदि और अन्तहीन काल की सीमा पर खड़े हैं
सब कुछ हमारे चहुँ ओर घूम रहा है,
उतना ही अन्धकार है, जितना कि प्रकाश।"

अन्त में वाल्टर ह्विटमैन आत्मविजयी महावीर जिनेन्द्र बनने की बात करते हुए एक मार्मिक सत्य की घोषणा करते हैं, जिसमें बाहरी युद्धों और संघर्षों को छोड़कर आंतरिक युद्ध पर ध्यान देने की प्रेरणा दी गई है :–

"अहो ! युद्धों और संघर्ष के मध्य भी,
जिस ध्येय का नामकरण हो चुका है,
वह बदला नहीं जा सकता।
अरे ! उन युद्धों और संघर्षों को पहिचानो,
जिनके मध्य से होकर प्रत्येक जीव को
अध्यात्मविजयी (जिनेन्द्र) बनना है।"

इस प्रकार यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वाल्टर ह्विटमैन ने जैनदर्शन के कतिपय प्रमुख ग्रन्थों का स्वाध्याय अवश्य किया होगा और वे उनसे अत्यधिक प्रभावित भी अवश्य हुए होंगे। ❖❖

वीतराग प्रभु स्तुति

केवल जोति सु जागी जी ! जब श्री जिनवर के।
लोकालोक विलोकत जैसे हस्तामल बड़भागी जी !
हरिचूडामणिशिखा सहज ही नम्र भूमि तें लागी जी !
समवसरनरचना सुर कीन्हीं देखत जन भ्रम त्यागी जी !
भक्तिसहित अर्चा तव कीन्हीं परम-धरम-अनुरागी जी !
दिव्यध्वनि मुनि सभा दुवादस आनन्द रसमें पागी जी !
'भागचन्द' प्रभु-भगति चाहत है, और कछू नहिं माँगी जी !

—प्राचीन जैनपदशतक, 63

भगवान् वीतराग प्रभु को जब केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई तब उन बड़भागी परमात्मा को करतलस्थित आंवले के समान समस्त लोकालोक दिखायी देने लगे। भगवान् सर्वज्ञ हो गये। उस समय इन्द्र के दिव्य मुकुट के शिखर सहज ही विनम्र होकर भूमि का स्पर्श करने लगे। देवताओं ने (भगवान् का दिव्य उपदेश सुनने के लिए) समवशरण (दिव्य सभा) की प्रशस्त रचना की, जिसे देखते ही भ्रम पलायन कर जाते हैं। अहिंसा परमधर्म के प्रति श्रद्धानरूप अनुराग रखने वाले भव्य जनों ने सभक्ति भगवान् अर्हन्तदेव की अर्चना की। जब भगवान् की दिव्य ध्वनि का श्रवण किया तब सम्पूर्ण द्वादशकक्षात्मक वह सभा आनन्दरस में निमग्न हो गई। कवि 'भागचन्द' परमात्मा की इस प्रकार स्तुति करते हुए उनसे भक्ति की याचना करता है, अन्य कोई कामना नहीं रखता।

समाचार दर्शन

आदर्श नागरिक बनाने की फैक्ट्री है धर्म : आचार्यश्री विद्यानन्द

डिफेंस कॉलोनी, नई दिल्ली स्थित आचार्य सुशील मुनि आश्रम में 'सर्व धर्म पर्यावरण सुरक्षा सम्मेलन' को संबोधित करते हुए सिद्धान्तचक्रवर्ती परमपूज्य आचार्यश्री विद्यानन्दजी मुनिराज ने कहा कि– धर्म आदर्श नागरिक बनाने की फैक्ट्री है। जो व्यक्ति पड़ोसी से प्रेम करता है, वही धर्मात्मा है। जो राष्ट्र, पड़ोसी राष्ट्र से प्रेम करे, वही धर्मात्मा राष्ट्र है। आचार्य सुशील मुनि ने विश्व के सभी धर्मों को एक मंच पर लाकर पर्यावरण सुरक्षा के लिए महान कार्य किया। आज अहिंसा की सर्वाधिक जरूरत है। जीवन में अहिंसा, वाणी में स्याद्वाद, विचारों में अनेकांत, समाज में अपरिग्रह, यही सर्वोदय तीर्थ है, जिसमें सबका उत्थान है।

बौद्ध धर्मगुरु श्री दलाई लामा ने कहा कि– भारत की हजारों वर्षों पुरानी अहिंसक संस्कृति शक्तिशाली है। आज विश्व के सभी देश हिंसा से दुखी होकर शान्ति चाहते हैं। इसके लिए सभी को प्रयास करना होगा। भारत की धरती ने सभी धर्मों का स्वागत किया है। यहाँ के रक्त में दया का संचार होता है। अहिंसा के प्रचार में जैन धर्म की महान भूमिका रही है। उन्होंने सभी से अहिंसक जैन जीवन शैली अपनाने की अपील की।

तिब्बतियों के धर्म गुरु दलाई लामा जी के आशीर्वाद के लिए हर कोई लालायित रहते हैं। पर ये तिब्बती धर्मगुरु स्वयं दिगम्बर जैन आचार्य मुनि विद्यानन्द जी के आशीर्वाद को लालायित दिखे। जैन मुनि ने भी उन्हें अपना मंगल आशीर्वाद प्रदान किया।

इस अवसर पर आचार्य डॉ. साध्वी साधना जी ने कहा कि– धर्म के प्रथम तीर्थंकर भगवान आदिनाथ जी ने ही लोकतंत्र, संबंधों तथा नैतिक चेतना को सारूप प्रदान किया है। आंतरिक प्रदूषण तथा बाहरी प्रदूषण दोनों से ही मनुष्य को बचना चाहिए। आचार्य रत्न सुंदर सूरी ने कहा कि– जरूरत ईश्वर में विश्वास रख सिर्फ आस्तिक बनाने के बजाय ईश्वर पर विश्वास कर धर्मात्मा बनने की है। हम पर्याप्त बुद्धि, संपत्ति और सफलता के अहम में ईश्वर पर भरोसा कर उसके आदेश को नहीं मानते। जिसके कारण हम ईश्वर से दूर रह जाते हैं।

सम्मेलन में द्वारका पीठ के जगद्‌गुरु शंकराचार्य जी, अजमेर शरीफ दरगार के दीवान, संतों महंत नवर किशोर, लामा जोब जंग, जत्थेदार रिछपाल सिंह, फादर कर्ममसीह, डॉ. ए.के. मर्चेंट, आचार्य मानमल, आचार्य रूपचंद, ब्र. बसंत, स्वामी प्रज्ञानंद, महामंडलेश्वर सर्वानंद, राघवानंद, दयानंद, सतनाम सिंह उप्पल तथा आचार्यरत्न सुन्दर सूरी तथा रुहानी संत राजेन्द्र सिंह आदि ने भी हिस्सा लिया।

विशिष्ट व्यक्तियों में पूर्व सांसद डालचन्द जैन, नवभारत टाइम्स के प्रकाशक श्री पुनीत जैन, कुन्दकुन्द भारती न्यास के मन्त्री श्री मुकेश जैन, न्यासी श्री सतीश जैन (SCJ) आदि उपस्थित थे।

दीक्षा समारोह

श्रवणबेलगोला, 16 नवम्बर 2007। आचार्यश्री शान्तिसागर जी स्मारक में जिनधर्म प्रभावक आचार्यश्री वर्धमानसागर जी मुनिराज के पावन सान्निध्य में पाँच दीक्षार्थियों को दीक्षा प्रदान की गई। नाम निम्नानुसार हैं :–

1. आर्यिकाश्री हीरममती माताजी (पूर्व क्षुल्लिका हीरकमती जी)।
2. आर्यिकाश्री ज्योतिमती माताजी (पूर्व ब्रह्मचारिणी मनोरमा बहन)।
3. क्षुल्लिकाश्री जिज्ञासामती माताजी (पूर्व ब्रह्मचारिणी सोनाली बहन)।
4. क्षुल्लकश्री जितेन्द्रसागर जी (पूर्व ब्रह्मचारी मीठालाल जी)।
5. क्षुल्लकश्री जयन्तीसागर जी (पूर्व ब्रह्मचारी उम्मेदमल जी)। ●●

सम्मानित

❋ डॉ. सुरेश चन्द्र जैन, दिल्ली; डॉ. कमलेश कुमार जैन, वाराणसी; डॉ. श्रेयांस कुमार जैन, बड़ौत एवं डॉ. अशोक कुमार जैन, वाराणसी को बांसवाड़ा (राज.) में 'महाकवि आचार्य ज्ञानसागर अष्टादश पुरस्कार' से सम्मानित किया गया।

❋ श्री राजबहादुर जैन (जैनी साहब) दिल्ली को 'वात्सल्यरत्नाकर पुरस्कार', डॉ. नलिन शास्त्री, बोधगया को 'सिद्धान्तचक्रवर्ती पुरस्कार' एवं डॉ. पी.सी. जैन, जयपुर को 'प्रशान्त मूर्ति पुरस्कार' से श्रीमहावीरजी (राज.) में सम्मानित किया गया।

सभी सम्मानित विद्वानों को प्राकृतविद्या परिवार की ओर से हार्दिक बधाई। ●●

समाधि दिवस

वात्सल्य रत्नाकर परमपूज्य आचार्यश्री विमलसागर जी मुनिराज का 13वाँ समाधि-दिवस परमपूज्य उपाध्याय श्री ऊर्जयन्त सागर जी के पावन सान्निध्य में 6 जनवरी 2008 को श्रीमहावीरजी में मनाया गया। ●●

आगामी मंगल आयोजन

卐 परमपूज्य आचार्यश्री विद्यानन्द जी मुनिराज के मंगल आशीर्वाद तथा परमपूज्य उपाध्यायश्री गुप्तिसागर जी के पावन सान्निध्य में बड़वानी (बावनगजा) सिद्धक्षेत्र मध्यप्रदेश में 20 जनवरी से 27 जनवरी 2008 तक पंचकल्याणक महोत्सव एवं 27, 29, 31 जनवरी और 2, 4 फरवरी 2008 को महामस्तकाभिषेक सम्पन्न होगा।

卐 परमपूज्य आचार्यश्री विद्यानन्द जी मुनिराज के मंगल आशीर्वाद एवं परमपूज्य एलाचार्यश्री श्रुतसागर जी तथा उपाध्यायश्री निर्णय सागर जी के पावन सान्निध्य में मथुरा चौरासी में भगवान श्री जम्बूस्वामी की ग्रेनाईट पाषाण से नवनिर्मित पद्मासन 18 फुट उत्तुंग मनोज्ञ प्रतिमा का पंचकल्याणक 24 फरवरी 2008 से 28 फरवरी और महामस्तकाभिषेक 29 फरवरी से 7 मार्च 2008 तक सम्पन्न होगा। ●●

विद्वत् आकाश का देदीप्यमान नक्षत्र अस्त



संहितासूरि पं. नाथूलालजी

तपस्वी, समता-सरलता-सौम्यता-गंभीरता-त्याग-साधना की मूर्ति, जैन शास्त्रों के महान विद्वान् संहितासूरि पं. नाथूलाल जी शास्त्री प्रतिष्ठाचार्य का 96 वर्ष की आयु में निधन हो गया। सैकडों प्रतिष्ठायें कराने के बाद भी धार्मिक क्रियाओं से कुछ भी प्राप्त न करने की भावना उनके महान व्यक्तित्व की विशेषता थी। वे वर्तमान में प्रतिष्ठाचार्यों एवं विद्वानों के लिये प्रेरणा स्रोत थे। दिगम्बर जैन संतों के पास तिलतुष मात्र भी परिग्रह नहीं होता किन्तु किसी विद्वान में गृहस्थ होते हुए भी तिलतुष मात्र ग्रहण करने की भावना न हो तो ऐसा त्याग इस भौतिक युग में प्रणम्य है।

1 नवम्बर 1911 को ग्राम सुरली सवाईमाधोपुरा में जन्में पं. नाथूलाल जी ने अपनी शिक्षा सर सेठ हुकुमचंद महाविद्यालय, इन्दौर से प्राप्त की। वे अपने समय के प्रकाण्ड विद्वान् पं. बंशीधर जी न्यायालंकार के शिष्य थे। शिक्षा प्राप्त कर वे उसी महाविद्यालय में अध्यापन कार्य करने लगे और लगभग वहाँ के प्राचार्य रहे। आ. पं. जी ने देश के विभिन्न शहरों में सौ से भी अधिक पंचकल्याणक प्रतिष्ठायें, 50 जिनबिम्ब प्रतिष्ठियें, इतनी ही वेदी प्रतिष्ठायें और असंख्य धार्मिक अनुष्ठान निःस्वार्थ भाव से सम्पन्न कराए। आ. पंडित जी श्री अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद् के अध्यक्ष भी रहे। उनको अनेक प्रतिष्ठित सम्मान, उपाधियाँ व पुरस्कार प्राप्त हुए। प्रतिष्ठा दिवाकर, संहितासूरी, जैन सिद्धान्त महोदधि, सिद्धांताचार्य, श्रुतयोगी, जैसी सामाजिक उपाधियों से उन्हें सम्मानित किया गया। सन् 1951 में उन्हें अखिल भारतीय दिगम्बर जैन महासभा ने हिन्दी जैन साहित्य लेखन के लिये पुरस्कृत किया। 'प्रतिष्ठा प्रदीप' कृति के लिये सन् 1993 में उन्हें 'कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ' पुरस्कार से सम्मानित किया गया। इसी प्रकार सन् 1995 में आचार्यश्री विद्यानन्द जी मुनिराज के सान्निध्य में गांधी नाथा रंगजी दिगम्बर जैन जनमंगल प्रतिष्ठान, सोलापुर द्वारा दिल्ली में 'कुन्दकुन्द पुरस्कार' से सम्मानित कर 'श्रुतयोगी' के मानद विरूद से सादर विभूषित किया गया। महावीर ट्रस्ट की पत्रिका 'सन्मतिवाणी' के वे संस्थापक-सम्पादक थे। उन्होंने अनेक धार्मिक ग्रन्थों का लेखन व प्रकाशन भी करवाया। पिछले 65 वर्षों से वे 'जैन तिथि दर्पण' भी प्रकाशित करवा रहे थे। जिसे देश में सर्वाधिक प्रामाणिक व महत्त्वपूर्ण माना गया।

प्राकृतविद्या परिवार की ओर से पं. नाथूलाल जी को विनम्र श्रद्धांजलि। ●●

प्राकृतविद्या के स्वत्वाधिकारी, प्रकाशक एवं मुद्रक श्री सुरेशचन्द्र जैन, अध्यक्ष, श्री कुन्दकुन्द भारती, 18-बी, स्पेशल इन्स्टीट्यूशनल एरिया, नई दिल्ली-110067 द्वारा प्रकाशित एवं पृथा ऑफसैट प्रा.लि., B62/11, नारायणा इण्डस्ट्रियल एरिया, फेस-II, नई दिल्ली-110028 में मुद्रित।



पर्वराज पर्यूषण पर कुन्दकुन्द भारती में आयोजित धर्म सभा को सम्बोधित करते हुए सिद्धान्तचक्रवर्ती परमपूज्य आचार्यश्री विद्यानन्दजी मुनिराज।



पर्वराज पर्यूषण पर कुन्दकुन्द भारती में आयोजित धर्म सभा में उपस्थित भक्तगण।

भारत सरकार पंजीयन संख्या TVL No. DELBIL06781/29/1/2007-TC

पर्वराज पर्यूषण पर कुन्दकुन्द भारती में आयोजित धर्म सभा में उपस्थित भक्तगण

